सेतु
निर्माता
यशपाल जैन

सेतु-निर्माता

समन्वयी साधकों के संस्मरण

यशपाल जैन

१९७५

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

•

पहला संस्करण : १९७५
मूल्य रु० ८.५०

•

मुद्रक
रूपक प्रिंटर्स
दिल्ली-३२

उन पवित्र हाथों को
जो शांति और मैत्री के लिए
सदा लालायित और आगे
बढ़े रहते हैं।

प्रकाशकीय

'मंडल' से बहुत-सा साहित्य ऐसा प्रकाशित हुआ है, जिसने पाठकों को लौकिक जीवन में बड़ी प्रेरणा दी है। वस्तुतः महापुरुषों की शिक्षाएं और वचन होते ही ऐसे हैं, जो मनुष्य को कठिनाइयों की घड़ियों में रास्ता दिखाते हैं। इस प्रकार का साहित्य कभी पुराना नहीं होता, नित नूतन रहता है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने उन चुने हुए व्यक्तियों के संस्मरण दिये हैं, जिन्होंने भारत और भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा रखकर दो देशों और उनके निवासियों के बीच स्नेह और सौहार्द स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनमें से दो को छोड़कर शेष व्यक्तियों से वह अपनी विदेश-यात्राओं में मिले थे। जिनसे उनका साक्षात्कार नहीं हुआ, उन्हें भी वह अपने बहुत निकट मानते हैं।

पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी रचना निजी अनुभूतियों के आधार पर की गई है। यही कारण है कि अपने संस्मरणों में जो चित्र लेखक ने दिये हैं, वे अत्यन्त सजीव तथा प्राणवान हैं और पढ़ने वालों के मन पर उनकी गहरी छाप पड़े बिना नहीं रहती।

लेखक की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, लेकिन इस पुस्तक का विशेष महत्व है, कारण कि यह उस सद्भाव और सम्वेदनशीलता पर जोर देती है, जिस पर हमारा देश ही नहीं, सारा संसार आज टिका है।

इन दिनों ऐसा साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित हो रहा है, जिसका मुख्य ध्येय पाठकों का सस्ता मनोरंजन करना है। जीवन में मनोरंजन का

भी अपना स्थान होता है, किन्तु हमें समझना चाहिए कि जीवन का आदर्श मनोरंजन मात्र से कुछ अधिक है, अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए जीवित रहना है।

हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक का सभी समाजों एवं सभी देशों में स्वागत होगा और इसे पढ़कर पाठक अधिक-से-अधिक लाभ उठावेंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि जो दूसरों की सेवा में निस्स्वार्थ भाव से संलग्न रहते हैं, उनके चरितों का अध्ययन और मनन जीवन को ऊंचा उठाने वाला होता है।

—मंत्री

दो शब्द

मेरे जीवन का मुख्य ध्येय मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना रहा है। मेरी रचनाओं में भी प्राय: यही स्वर मुखरित हुआ है। मैं मानता हूं कि संसार में मानव से बढ़कर और कुछ नहीं है। हमारे धर्म-पुरुषों ने तो यहां तक कहा है कि इस पृथ्वी पर मानव-जन्म दुर्लभ है।

मुझे अपने देश में उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक अनेक बार घूमने का अवसर मिला है। देश से बाहर भी लगभग चालीस देशों में मैंने भ्रमण किया है। अपने अनुभव के आधार पर मेरी यह धारणा संपुष्ट हुई है कि आचार-विचार, धर्म-विश्वास, जात-पांत, रहन-सहन, भाषा-राष्ट्रीयता आदि भिन्न होते हुए भी मूलत: मानव एक है और उसने चारों ओर जो सीमा-रेखाएं बना रखी हैं, वे कृत्रिम हैं। प्रकृति तो सारे देशों में सारे इंसानों को एक-सा पैदा करती है।

विविधता सृष्टि की शोभा है। बगीचे में नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूल होते हैं तभी वह मनोरम बनता है। एक ही रंग के और एक ही से फूल हों तो देखने वाले ऊब जाते हैं। लेकिन मानव-जीवन तभी धन्य बनता है जब वह अनेकता में एकता के दर्शन करता है। विविधता को बनाये रख-कर जो एक-दूसरे को निकट लाने, आपस में मिलाने, का काम करता है, वह अपने जीवन को सार्थक करता है।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने भारत को छोड़कर अन्य अनेक देशों की उन चुनी हुई सोलह विभूतियों के संस्मरण और परिचय दिये हैं, जिन्होंने अपने देश और भारत के बीच प्रेम एवं सद्भाव स्थापित करने के लिए प्रयास किया और इस प्रकार वे उभय देशों के मध्य सेतु-निर्माता बने। इन साधकों में से लियो टाल्स्टाय और अकादेमीशियन बारान्निकोव के दर्शन

का सौभाग्य मुझे नहीं मिला, लेकिन इन दोनों को हमारे देश में कौन नहीं जानता ! टाल्स्टाय की रचनाओं में उन शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है, जो भारतीय संस्कृति की आधार-शिला हैं। यही कारण है कि भारतवासियों ने उन्हें 'महर्षि' की उपाधि से विभूषित किया। उनकी दो कहानियों—'आदमी को कितनी जमीन चाहिए ?' (हाऊ मच लैण्ड डज़ ए मैन नीड) और 'मूरखराज' ('इवान, दि फ़ूल') का उल्था स्वयं गांधीजी ने किया। पहली कहानी में अपरिग्रह की महिमा दिखाई गई है, दूसरी में कायिक श्रम के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। इन कहानियों तथा उनकी अन्य कृतियों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है, मानो उनका लेखक भारत में ही जन्मा हो। पाठकों को स्मरण होगा कि गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में अपने आश्रम का नामकरण टाल्स्टाय के नाम पर ही किया था।

प्रो० वारान्निकोव ने तुलसीकृत 'रामचरित-मानस' का रूपान्तर रूसी भाषा में किया और इस तरह राम-भक्ति और भारत के उस महान ग्रन्थ का परिचय अपने देशवासियों को कराया, जो भारतीय संस्कृति, समाज और लोक जीवन का विश्वकोश है। इसके साथ ही इस भारतविद् ने बहुत-से मौलिक ग्रंथों की रचना करके इस भ्रांति को दूर करने का सत्प्रयास किया कि पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम, और दोनों कभी मिल नहीं सकते।

संग्रह के अन्य सब व्यक्तियों से विभिन्न विदेश-यात्राओं में या भारत में मेरी भेंट हुई और उन्हें जानने और निकट से देखने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ। उन सबमें मैंने गहरी सम्वेदनशीलता और भारत एवं भारतीयता के प्रति असीम निष्ठा पाई। अपने देश और भारत के निवासियों के बीच उन्होंने प्रेम और मैत्री को बढ़ाने के लिए जो भूमिका अदा की, वह मानवता के इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगी। उन्होंने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से यह बता दिया कि इस संसार में सबकुछ नश्वर है, केवल प्रेम ही अमर है।

मेरी दृष्टि में साहित्य का अर्थ और प्रयोजन है जोड़ना। जो साहित्य जोड़ता नहीं, तोड़ता है, उसे कुछ भी कहा जाय, पर वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं। वास्तविक साहित्य देश-काल की सीमा से परे होता है। उसमें समूची मानव-जाति के हृदय का स्पन्दन सुनाई देता है। टाल्स्टाय, गोर्की, तुर्गनेव, अनातोले फ्रांस, स्टीफन ज्विग प्रभृति विदेशी लेखकों की रचनाओं में मानो हमारी ही आत्मा बोलती है। वस्तुतः दीर्घजीवी वही साहित्य होता है, जो जीवन की अतुल गहराइयों में से उपजता है और जिसकी प्रेरणा सार्वजनीन एवं सार्वकालिक होती है।

किसी महापुरुष का कथन है कि जो हाथ शान्ति और मैत्री के लिए सदा लालायित और आगे बढ़े रहते हैं, उन्हें थामने के लिए हमें हर घड़ी तैयार रहना चाहिए। मैंने जिन व्यक्तियों को इस पुस्तक में लिया है, वे ऐसे ही व्यक्ति थे, जिनका जीवन साहित्य के निर्माण अथवा अन्य प्रकार से सेवा द्वारा जन-कल्याण के लिए समर्पित रहा। उससे भी बड़ी बात यह है कि उन्होंने जो कहा, उसे स्वयं अपने जीवन में जीने का सतत प्रयास किया।

अपनी विदेश-यात्राओं में मुझे और भी बहुत-से ऐसे भाई-बहन मिले, जिनके अंतर में प्रेम और लोकहित की भावना कूट-कूटकर भरी थी। उन सबके बारे में मैं लिख पाता तो मुझे बड़ा हर्ष होता, लेकिन उस हालत में इस पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जाता। अतः मुझे अनिच्छापूर्वक उस लोभ का संवरण करना पड़ा। यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि छोटे माने जाने वाले व्यक्तियों में प्रायः ऐसे गुण पाये जाते हैं, जो तथाकथित बड़े लोगों में नहीं मिलते।

अपने देश के विभिन्न क्षेत्रों की विभूतियों के विषय में भी समय-समय पर मैंने लिखा है, पर उन संस्मरणों को दूसरे संग्रह के लिए छोड़ दिया है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय मुख्यतः दादाजी (श्रद्धेय बनारसीदास जी चतुर्वेदी) को है, जिनका 'सबसे ऊंची प्रेम-सगाई' में अटूट विश्वास है।

म्यूरियल लीस्टर तथा अन्य व्यक्तियों के बारे में मेरे संस्मरणों को पढ़कर उन्होंने बार-बार यह इच्छा प्रकट की कि उन्हें तत्काल पुस्तकाकार प्रकाशित करा देना चाहिए। अपनी व्यस्तता के कारण मैं जल्दी ही ऐसा नहीं कर सका; पर मुझे संतोष है कि देर से ही सही, उनकी इच्छा पूर्ण हो रही है। मन होता है कि जी भर कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूं, परन्तु हमारे आपसी सम्बन्ध इतने घनिष्ट हैं कि शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरी अक्षम्य धृष्टता होगी।

पुस्तक के कलेवर के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना। वह पाठकों का अधिकार है। मैं तो इतना ही निवेदन करना चाहता हूं कि यदि इस पुस्तक का एक अंश भी पाठकों के हृदय का स्पर्श कर सका, उनके मानव को सचेत और सचेष्ट कर सका, तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा।

७/८, दरियागंज, दिल्ली
१ अगस्त १९७५

—यशपाल जैन

अनुक्रम

१ | मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठापक

हमारे देश में जिन विदेशी ग्रन्थकारों को असाधारण मान और लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उनमें रूस के महान् कलाकार लियो टाल्स्टाय का नाम अग्रणी है। भारत की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो, जिसमें उनकी रचनाओं के अनुवाद न हुए हों। कुछ भाषाओं में तो उनकी एक-एक रचना के कई-कई अनुवाद हुए हैं। पाठकों को संभवतः ज्ञात होगा कि इस कलाविद की दो कहानियों (१. 'हाऊ मच लैण्ड डज़ ए मैन नीड'—आदमी को कितनी ज़मीन चाहिए) और २. 'इवान, दी फूल'—मूरखराज से गांधीजी इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने स्वयं उनका गुजराती में रूपांतर किया और हजारों पाठकों तक उन्हें पहुंचाया। गांधीजी ने लिखा है कि जिन पुरुषों का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा था, उनमें एक टाल्स्टाय थे। वह अपनी 'इंडियन ओपीनियन' पत्रिका बराबर टाल्स्टाय को भेजते रहे और टाल्स्टाय उसे नियमित रूप से ध्यानपूर्वक पढ़ते रहे।

वैसे तो विश्व-साहित्य में ही टाल्स्टाय का बहुत ऊँचा स्थान है; लेकिन भारत में तो उनके प्रति असीम आत्मीयता है। इसका कारण यह है कि अपनी कृतियों में उन्होंने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, वे भारतीय सिद्धांतों के बहुत ही निकट हैं। इतना ही नहीं, उन सिद्धांतों के अनुकूल वह अपना जीवन व्यतीत करने का भी निरंतर प्रयत्न करते रहे। सादगी और नीति-निष्ठा, प्रेम और बंधुत्व, अपरिग्रह और समानता, ये उनके जीवन और साहित्य के सार-तत्व कहे जा सकते हैं और इसी कारण

हमारे देश में टाल्स्टाय को 'महर्षि' की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

यह निश्चय ही अद्भुत संयोग था कि टाल्स्टाय और गांधीजी समकालीन थे। गांधीजी की दक्षिण अफ्रीका की प्रवृत्तियों में टाल्स्टाय की गहरी अभिरुचि थी और टाल्स्टाय के सिद्धांतों और उनके जीवन के प्रयोगों के प्रति गांधीजी का बड़ा ही आकर्षण था। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों महापुरुषों के बीच कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ, जो आज भी सुरक्षित है।

टाल्स्टाय का समूचा साहित्य—निबंध, कहानियां, उपन्यास—कला की दृष्टि से तो उत्कृष्ट है ही, अपनी नैतिक भूमिका के कारण वह और भी मूल्यवान् बन गया है।

इस महान् लेखक के लिए मेरे हृदय में बड़ा अनुराग रहा है। अतः यह स्वाभाविक था कि अपने रूस-प्रवास में मैं उनकी जन्मभूमि यास्नाया पोलियाना के दर्शन करता और उनकी समाधि पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता। मास्को पहुंचते ही मैंने 'सोवियत लेखक संघ' के अधिकारियों से कह दिया था कि मैं यास्नाया पोलियाना की यात्रा अवश्य करूंगा और उन्होंने उसकी व्यवस्था कर दी। हम पांच व्यक्ति मास्को से कार द्वारा रवाना हुए। तीन थे चीनी लेखक—वू (नाटककार), चू ज़े फ़ू (कहानी-लेखक), अलेमाज़ तुर्गोन (कवि), चौथी हमारी परिवाचिका मार्कोवा स्वेतलाना और पांचवां मैं। चीनी लेखकों में केवल एक अंग्रेजी बोल लेते थे, सो भी टूटी-फूटी। मार्कोवा चीनी और अंग्रेज़ी बहुत अच्छी तरह जानती थी, रूसी तो उसकी मातृभाषा थी ही।

यास्नाया पोलियाना मास्को से कोई दो सौ किलोमीटर है। यह सोचकर कि शाम को लौटने में बहुत देर न हो जाय, हम लोगों ने बड़े तड़के प्रस्थान किया। रास्ता बड़ा ही साफ-सुथरा और सुन्दर था। दोनों ओर दूर-दूर तक बिरियोज़ा तथा यैल के ऊंचे सघन वृक्ष मार्ग को आकर्षक और यात्रा को सरस बना रहे थे। लगभग सौ किलोमीटर तक मास्को जिले में चलते रहे, अनंतर सरपोखोव कस्बा और ओका नदी को पार करने पर

तुला जिला प्रारंभ हो गया। तुला शहर में समोवार का बहुत बड़ा कारखाना है। वहां एक कहावत है—"डू नॉटगो टु तुला विद योर ओन समोवार।"—अर्थात् अपनी समोवार लेकर तुला न जाओ। यह कहावत हमारी 'उल्टे बांस बरेली को' के समानान्तर मानी जा सकती है।

मैंने मार्कोवा से कहा, "इन चीनी कवि से कहो कि कुछ सुनावें।" मार्कोवा ने अलेमाज़ तुर्गोन से मेरी ओर से आग्रह किया तो उन्होंने एक छोटी-सी कविता सुनाई। उसका भाव यह था कि युद्ध चल रहा है, सब लोग बड़े हैरान हैं। इतने में किसी कवि को समाचार मिलता है कि उसका देश, उसकी मातृभूमि, विजयी हो गई है। इससे वह बहुत ही प्रफुल्लित होता है।

तुर्गोन चीनी में सुनाते जाते थे, मार्कोवा अंग्रेज़ी में अनुवाद करती जाती थी। हो सकता है, मूल भाषा में शब्दों का लालित्य रहा हो, पर मुझे तो वह कविता बड़ी सामान्य-सी लगी। मैंने मार्कोवा से कहा, "अब तुम कुछ सुनाओ।" उसने पहले तो मीरोश्व्स्की नामक प्राचीन रूसी कवि की 'शाक्यमुनि' रूसी कविता सुनाई, अनंतर सीमोनोव नामक आधुनिक कवि की। दोनों बुद्ध से संबंधित थीं। दूसरी कविता की कथा यह थी कि तीन यात्री कहीं जाते हैं। रास्ते में भटक जाते हैं। उन्हें भूख व्याकुल करती है। अंत में उन्हें एक बौद्ध विहार मिलता है। उसमें बुद्ध की मूर्ति है, जिसके सिर पर एक मूल्यवान् पत्थर लगा है। वे तीनों उस पत्थर को लेना चाहते हैं। वहां का संरक्षक उन्हें रोकता है। यात्री निराश होकर आगे बढ़ जाते हैं। पर बुद्ध उस पत्थर को लेकर उनके पास आते हैं और कहते हैं, "लो यह लो। यह तुम्हारे ही लिए तो है।" कविता बड़ी ही भावपूर्ण थी। अच्छी लगी।

जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, रास्ते का सौंदर्य और भी निखरता गया। हरे-भरे वृक्षों के बीच सामूहिक खेतों की बस्तियां बड़ी सुहावनी लगती थीं। लगभग ११ बजे घने वृक्षों की अमराई के निकट हमारी कार रुकी। मार्कोवा ने कहा, "अब हम यास्नाया पोलियाना के पास आ गये हैं।

आइये, कुछ खा-पी लें।" आकाश मेघाच्छन्न था। तेज़ हवा चल रही थी। मार्कोवा साथ में जो खाना लाई थी, उसे खा-पीकर आगे बढ़े। कुछ ही क़दम जाने पर एक फाटक मिला, जो वंद था। कार की आवाज़ सुन-कर एक आदमी आया और उसने फाटक खोल दिया। मार्कोवा बोली, "अब हम शीघ्र ही टाल्स्टाय एस्टेट में प्रवेश करनेवाले हैं।"

मैं कुछ सोचने लगा, इतने में कार एक इमारत के सामने जाकर खड़ी हो गई। हम लोगों के उतरते-उतरते एक रूसी सज्जन आ गये। उनका नाम था निकोलाई पूज़िन, जो टाल्स्टाय के घर के संरक्षक थे। वड़े भले और भोले। वह हमें अन्दर ले गये। चलते-चलते बोले, "यह स्थान वड़ा पवित्र और स्मरणीय है। अपने जीवन के ८२ वर्षों में से टाल्स्टाय ने ६० वर्ष यहीं पर व्यतीत किये थे। यहीं पर उनका जन्म हुआ और यहीं पर उनकी समाधि है। इसी मकान में उन्होंने कोई दो सौ पुस्तकों की रचना की, जिनमें 'वार एण्ड पीस,' 'अन्ना करीनीना' आदि को सव जानते हैं। सारा मकान ठीक वैसी ही हालत में रक्खा गया है, जैसा कि टाल्स्टाय के जीवन-काल में था।"

पूज़िन अंग्रेज़ी नहीं जानते थे। वह रूसी में बोलते थे और मार्कोवा अंग्रेज़ी में मुझे और चीनी में चीनी लेखकों को समझाती जाती थी। वात करते-करते हम टाल्स्टाय के मकान में प्रविष्ट हुए। नीचे की मंज़िल के सबसे पहले कमरे में टाल्स्टाय का पुस्तकालय था, जिसमें २८ अलमारियों में विविध विषयों तथा भाषाओं की लगभग २२ हजार पुस्तकें थीं। टाल्स्टाय खूब पढ़ते थे। इतना ही नहीं, जिन पुस्तकों को पढ़ते थे, उनके नोट्स भी तैयार करते थे। रूसी के अतिरिक्त वह १३ अन्य भाषाएं जानते थे।

पुस्तकालय से कुछ सीढ़ियां चढ़कर उनकी वैठक में पहुंचे। वही उनके भोजन का भी कमरा था। उसमें मेज पर रकावियां आदि ठीक पहले की तरह रक्खी थीं, एक ओर को पियानो। टाल्स्टाय के कुछ चित्र भी थे। पूज़िन ने वताया कि टाल्स्टाय प्रतिदिन ७॥ बजे सोकर उठते थे और

अपना कमरा स्वयं साफ़ करके घूमने चले जाते थे। लौटकर कॉफ़ी पीते थे और डाक देखते थे, फिर १।। बजे तक बराबर काम करते थे। २ बजे भोजन करते थे। वह शाकाहारी थे और उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि मेज़ के एक ओर निरामिष-भोजी बैठें, दूसरी ओर मांसाहारी। भोजन के पश्चात् वह आसपास के स्थानों के गरीब किसानों और मज़दूरों से, जो वहां आ जाते थे, बातें करते थे, उनकी समस्याएं सुलझाते थे। शाम को कोनेवाली मेज़ के सहारे सोफ़े तथा कुसियों पर परिवार के सब लोग बैठ जाते थे और पास्तरनक नामक कलाकार उनका चित्र बनाते थे। महिलाएं उस समय कढ़ाई करती रहती थीं और टाल्स्टाय कुछ पढ़कर सुनाते रहते थे।

घर की अधिकांश चीज़ें टाल्स्टाय को अपने पूर्वजों से मिली थीं। बहुत थोड़ी चीज़ें खरीदी गईं और वे भी सस्ती-से-सस्ती। टाल्स्टाय कहा करते थे कि हमें बहुत ज़रूरी हों, वे ही चीज़ें रखनी चाहिए और अपने ऊपर कम-से-कम खर्च करना चाहिए। सामने की दीवार पर पांच चित्र टंगे थे रूस के सुप्रसिद्ध कलाकारों के बनाये हुए। उनमें दो टाल्स्टाय के थे एक-एक उनकी पुत्री मरिया तथा ततियाना के और एक उनकी पत्नी सोफ़िया का। टाल्स्टाय संगीत के बड़े प्रेमी थे। दो पियानो उसी कमरे में रक्खे थे। दूसरी दीवार पर सलीब पर टंगे ईसा का बड़ा ही प्रभावोत्पादक चित्र था। बाद में टाल्स्टाय के नाना और बाबा तथा केन्द्र में दादी के पिता का चित्र था। सामने के दायें कोने में एक ग्रामोफ़ोन रक्खा था।

उसके आगे का कमरा छोटा बैठकखाना था। टाल्स्टाय की मूर्त्तियों, फर्नीचर तथा चित्रों के बीच एक बड़ा ही आकर्षक चित्र टंगा था, जिसमें टाल्स्टाय बहुत ही गंभीर मुद्रा में लिखने में व्यस्त थे। इसी कमरे में सोफिया अपने स्वामी की रचनाओं की साफ कापी तैयार किया करती थी। टाल्स्टाय के स्वयं के बनाये कई चित्र भी इस कमरे में टंगे थे। बड़े-बड़े संगीतज्ञ, साहित्यकार तथा अन्य महापुरुष यहीं आकर टाल्स्टाय से मिलते थे। सुविख्यात रूसी लेखक तुर्गनेवने यहीं बैठकर उन्हें अपनी 'सौंग

ऑफ दी ट्राइम्फ़ॅट लव' (विजयी प्रेम का गीत) रचना सुनाई थी।

इसके पश्चात् आया टाल्स्टाय का निजी कमरा। पूज़िन ने बड़ी भावना के साथ कहा, "यह कमरा हमारे लिए बड़ा पवित्र है। हमारे लिए गांधी का नाम भी बड़ा पवित्र है। टाल्स्टाय गांधी के बड़े प्रशंसक थे और गांधी टाल्स्टाय के। दोनों ही महापुरुष थे और दोनों के ही जीवन के उद्देश्य और सिद्धांत एक थे।" कमरे की छोटी-सी आलमारी में अन्य पुस्तकों के बीच एक पुस्तक थी—'एम० के० गांधी—एन इंडियन पेट्रियट इन साउथ अफ्रीका', लेखक थे जोज़ेफ़ जे. डोक। इस पुस्तक का टाल्स्टाय ने कितनी बारीकी से अध्ययन किया था, इसका अंदाज जगह-जगह पर पैंसिल से लगाये उनके निशानों से किया जा सकता था।

एक ओर को टाल्स्टाय की पढ़ने-लिखने की मेज़ थी बड़ी मामूली-सी। पास ही एक तख्ते पर कुछ पुस्तकें रक्खी हुई थीं। अपने जीवन के अंतिम आठ वर्षों में टाल्स्टाय इसी कमरे में बैठकर पढ़ते-लिखते थे। अन्तिम समय में वह डास्टोवस्की का 'ब्रदर क्रेमेज़ोव' पढ़ रहे थे। इसी मेज़ पर बैठकर उन्होंने 'वार एण्ड पीस,' 'अन्ना करीनीना' तथा बहुत-सी कहानियां और पत्र लिखे थे। आलमारी की पुस्तकों में ब्रुक गाउज़ डिक्शनरी की कई जिल्दें रक्खी थीं और बाइबिल तथा कुरान की एक-एक प्रति भी।

कमरे में बहुत-से चित्र लगे थे। एक मेज़ पर लैंप रक्खा था। एक ओर को कुछ और पुस्तकें थीं, जिनमें डिकिन्स आदि विदेशी लेखकों की कृतियों के अतिरिक्त कुछ दार्शनिक तथा धार्मिक ग्रंथ भी थे।

उसके बाद टाल्स्टाय का शयनागार था, जिसमें एक पलंग पड़ा था। पलंग के पास आलमारी पर मोमबत्ती, दियासलाई, शीशी तथा कुछ अन्य चीज़ें रक्खी थीं। एक मेज़ पर हाथ धोने के लिए साबुन, बर्तन, सुराही, तौलिया आदि। उसी के निकट कुछ छड़ियां, एक चाबुक और तीन-चार कुर्सियां। ततियाना, सोफिया और टाल्स्टाय के डाक्टर मकविस्की के चित्र थे।

आगे का सोफिया का कमरा मालकिन के स्वभाव के अनुरूप वैभव

से परिपूर्ण था। काफ़ी सामान था उसमें। एक पलंग पड़ा था, जिस पर ७५ वर्ष की अवस्था में सोफ़िया ने, सन् १९१९ में, इस संसार से विदा ली थी। पूज़िन ने बताया कि सोफ़िया को इस बात का परम संतोष था कि उसका अपना घर है। उसके १३ बच्चे हुए। मृत्यु के समय तक वह दादी-परदादी हो चुकी थी, उसके २८ नाती-पोते तथा एक पड़पोता था। पलंग से सटी मेज पर कुछ किताबें रक्खी थीं और टोकरी में कढ़ाई का सामान। एक ओरकी दीवार पर हाथमें बाइबिल लिये ईसा का चित्र था।

बराबर के कमरे में टाल्स्टाय के सेक्रेटरी निकोलाई गूसिफ़ रहा करते थे। उन्होंने टाल्स्टाय की विस्तृत जीवनी तैयार की। टाल्स्टाय इसी कमरे में अपनी डाक देखते थे। उसके पार्श्व के कमरे में एक छोटा-सा पुस्तकालय था।

नीचे की मंजिल के जिस कमरे में हम सबसे पहले गये थे, वह बड़े महत्वका था। उसका उपयोग कई प्रकारसे होते-होते अंत में वह अध्ययन-कक्ष बना। उसी कमरे में टाल्स्टाय को 'वार एण्ड पीस' लिखने की प्रेरणा हुई। यहीं पर उन्होंने अपनी रचनाओं के ५५९ पात्रों की कल्पना की। एक चित्र में वह आराम कुर्सी पर अधलेटे विचार-मग्न दिखाई देते थे। इसी कमरे के एक भाग में टाल्स्टाय के डाक्टर मकविस्की सो रहे थे, जबकि २८ अक्तूबर १९१० को, सबेरे ४ बजकर १० मिनट पर टाल्स्टाय ने चुपके से आकर उन्हें जगाया और उनके साथ गृह-त्याग कर दिया, कभी न लौटने के लिए। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। निविड़ अंधकार में घोड़ा-गाड़ी को तैयार कराकर वह चल पड़े और ७ किलोमीटर पर शोकीनो स्टेशन पर पहुंचे। वहां से रेल में अज्ञात दिशा में चल पड़े। उनकी वृद्ध काया शीत को और यात्रा के श्रम को सहन न कर सकी। कोई २०० किलोमीटर चलने पर उनकी तबीयत बिगड़ गई, निमोनिया हो गया। डाक्टर ने विवश होकर उन्हें अस्तापोवो नामक छोटे-से स्टेशन पर उतार लिया। वहीं स्टेशन-मास्टर के यहां ७ नवम्बर १९१० को इस मनीषी का देहान्त हो गया। उनकी स्मृतिमेंअब उस स्टेशन का नाम 'लियो टाल्स्टाय'

हो गया है। मृत्यु के समय परिवार के लोग मौजूद थे, बहुत-से मित्र उपस्थित थे। सब टाल्स्टाय से मिल सकते थे, लेकिन सोफ़िया नहीं, क्योंकि उससे न बनने के कारण ही तो उन्होंने घर छोड़ा था। आखिर सोफ़िया का जी न माना और जब वह अन्दर गई, टाल्स्टाय अन्तिम सांस ले रहे थे।

इस कमरेके बराबर केकमरे की चर्चा टाल्स्टाय ने अपने 'अन्ना करीनीना' उपन्यास में की है। इसी कमरे में उन्होंने 'माई कन्फैशन' लिखा। तुर्गनेव, गोर्की आदि लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार इसी कमरे में ठहरे। अस्तापोवो से लाने के बाद टाल्स्टाय का शव इसी कमरे में एक मेज़ पर रक्खा गया। हज़ारों नर-नारी पंक्तिवद्ध होकर एक द्वार से अन्दर आये और महान् कलाकार के दर्शन करके बाहर चले गये।

टाल्स्टाय ने अपने जीवन-काल में समाधि के लिए स्थान का निर्देश कर दिया था और यह भी आदेश दे दिया था कि उनकी समाधि पर कोई स्मारक न बनाया जाय।

घर देखने के बाद हम लोग बाहर आये तो पेड़ों के बीच की जगह की ओर संकेत करते हुए पूज़िन ने बताया कि यहां वह मकान था, जिसमें टाल्स्टाय का जन्म हुआ था। पुराना होने से वह मकान टूट गया और उसका सामान नये मकान के बनाने में काम आ गया। कुछ ही कदम पर वह स्कूल देखा, जो टाल्स्टाय ने यास्नाया पोलियाना गांव के किसानों के बच्चों को पढ़ाने के लिए खोला था और उनके लिए बहुत-सा साहित्य तैयार किया था। अब वहां संग्रहालय है।

घर से कोई दो फर्लांग पर घने वन के बीच टाल्स्टाय की समाधि है, नितान्त निर्जन स्थान पर। वहां जाने के लिए मार्ग बड़ा मनोरम है। दोनों ओर ऊंचे-ऊंचे पेड़ हैं।

समाधि पर पहुंचे तो उसकी सादगी और पवित्रता को देखकर श्रद्धा से सिर झुक गया। इधर-उधर से मिट्टी समेटकर छः फुट लम्बी समाधि बना दी गई थी। उसके इर्द-गिर्द बिरियोज़ा के नौ पेड़ थे, पांच बड़े और

चार छोटे। यैल की वाड़ी थी। समाधि पर कुछ फूल रक्खे थे। शायद किसी ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की होगी। समाधि के दर्शन करते समय मुझे टाल्स्टाय की 'आदमी को कितनी ज़मीन चाहिए ?' कहानी याद आ गई। उसमें उन्होंने वताया है कि मनुष्य जीवनभर इतनी आपा-धापी करता है, पर अन्त में छः फुट, केवल छः फुट ज़मीन, उसके काम आती है। जिसने अपनी समस्त रचनाओं में अपरिग्रह की महिमा गाई, वह मृत्यु के वाद भी किसी वैभवशाली स्मारक का समर्थन कैसे कर सकता था !

आस्ट्रिया के सुविख्यात लेखक स्टीफन ज़्विग ने वहां की यात्रा करके अपने आत्म-चरित (वर्ल्ड आव यस्टरडे) में उसका बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। वह लिखते हैं :

"इस समाधि पर न कोई चिह्न है, न कोई नाम, और उस महापुरुष की कब्र वैसी ही वनी हुई है, जैसी किसी आवारे फक्कड़ की हो या किसी अज्ञात सिपाही की। कोई भी आदमी वहां विना रोक-टोक के पहुँच सकता है। यहां कोई चौकी-पहरा नहीं है, न कोई ताला-कुंजी। मुक्त वायु उस समाधि पर मानो ईश्वरीय संदेश सुनाती है। वहां किसी भी प्रकार का शोरगुल नहीं है। कोई भी यात्री वहां से गुजर सकता है। उसे पता लगेगा तो केवल इतना ही कि वहां कोई मामूली रूसी आदमी रूसी मिट्टी में गड़ा हुआ है। न तो नेपोलियन की कब्र को, न महाकवि गेटे की समाधि को और न वैस्टमिन्स्टर एबे के समाधि-स्थल को देखकर ऐसे भाव हृदय में उठते हैं, जैसे टाल्स्टाय की इस समाधि के दर्शन करके—जो उस शांत तपोवन में विद्यमान है, जो स्वयं मौन है, नामहीन, जो वायु का सन्देश सुनती है, पर जो स्वयं न तो वोलती है, न कुछ सन्देश सुनाती है।"

मुझे याद आया, गांधीजी दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि थे, टाल्स्टाय भी जन-साधारण का प्रतिनिधित्व करते थे। वह जीवन भर मामूली-से घर में रहे, जिसमें विजली-पानी तक की सुविधा नहीं थी। मास्को में मैंने उनका वह घर देखा था, जिसमें वह कुछ समय रहे थे और स्वयं वाल्टी लेकर मस्क्वा (मास्को) नदी से पानी भर कर लाया करते थे। लालटेन

की रोशनी में पढ़ते-लिखते थे। ऐसा व्यक्ति मृत्यु के बाद किसी वैभव की बात कैसे सोच सकता था! मृत्यु वैसे भी छोटे-बड़े, अमीर-गरीव सबको समान बना देती है।

पूज़िन ने बताया कि सन् १९४१ में जब नाजी सेनाओं ने इस स्थान पर आक्रमण किया तो यहां के ११३ पेड़ काट डाले और अपने ५७ मृत अफसरों को यहीं पर समाधिस्थ कर दिया। बाद में उनके शव हटाये गए। उन्होंने यह भी वताया कि नाजियों ने ४५ दिन तक टाल्स्टाय के घर को अपने कब्जे में रक्खा, उसे अस्तवल वना दिया और कई कमरों में आग लगा दी। वह तो अच्छा हुआ कि नाजी आक्रमण की सूचना पहले ही मिल गई थी, जिससे वहुत-सा सामान वहां से हटा दिया गया था। नाजियों के चले जाने के बाद सारे कमरे यथापूर्व कर दिये गए, सारा सामान ज्यों-का-त्यों रख दिया गया। फिर भी सौ-सवा सौ चीजें जर्मन चुराकर ले ही गये।

सोफ़िया की समाधि उसके स्वामी के निकट नहींथी। पूजिन ने वताया कि वह वहां से कोई २॥ किलोमीटर पर कोचेकोव्स्की स्थान पर है। वहीं टाल्स्टाय के माता-पिता की समाधियां हैं। टाल्स्टाय के परिवार में अब उनकी एक पुत्री वची है एलेक्जैण्ड्रा, जो अमरीका में रहती है। ततियाना अपनी क्षयग्रस्त लड़की का इलाज कराने इटली गई थी, वहीं मर गई। सर्गी का देहान्त सन् १९४७ में मास्को में हुआ। वह मास्को विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। इलिया का १९३३ में अमरीका में, लियव का १९४४ में स्विट्जरलैंड में, आंद्री का १९१६ में पीट्रोग्राड में और मिखायु का १९४४ में मारोको में। मरिया १९०६ में टाल्स्टाय के सामने ही चल बसी थी।

टाल्स्टाय का समूचा जीवन संघर्ष में बीता। अपने सिद्धान्त के अनुसार वह गरीवी, सादगी और सचाई का जीवन जीना चाहते थे, लेकिन पारिवारिक उलझनें उन्हें दूसरे ही रास्ते पर चलने के लिए विवश करती थीं। वह निरन्तर आंतरिक तथा वाह्य परिस्थितियों से जूझते रहे। उनके

सामने जीवन का आदर्श स्पष्ट था और उन्होंने उसकी ओर बढ़ने का बराबर उद्योग किया। अनेक कष्ट सहे, पर अपने विचारों पर दृढ़ रहे। गांधीजी ने २० सितम्बर सन् १९२८ के हिन्दी 'नवजीवन' में लिखा था, "टाल्स्टाय की सादगी अद्भुत थी। बाह्य सादगी तो थी ही। वह अमीर-वर्ग के थे। इस संसार के सभी भोग उन्होंने भोगे थे। धन-दौलत के विषय में मनुष्य जितनी इच्छा रख सकता है, उतना उन्हें मिला था। फिर भी उन्होंने भरी जवानी में अपना ध्येय बदला। दुनिया के विविध रंग देखने पर भी, उसके स्वाद चखने पर भी, जब उन्हें प्रतीत हुआ कि इसमें कुछ नहीं है तो उससे मुंह मोड़ लिया और अन्त तक अपने विचारों पर पक्के रहे। इसी से मैंने एक जगह लिखा है कि टाल्स्टाय इस युग की सत्य की मूर्त्ति थे। उन्होंने सत्य को जैसा माना, वैसा ही पालने का उग्र प्रयत्न किया। सत्य को छिपाने या कमजोर करने का प्रयत्न नहीं किया। लोगों को दुःख होगा या अच्छा लगेगा कि नहीं, इसका विचार किये बिना ही उन्हें जो वस्तु जैसी दिखाई दी, वैसी ही कह सुनाई।"

आगे चलकर वह फिर कहते हैं, "टाल्स्टाय अपने युग के लिए अहिंसा के बड़े भारी प्रवर्तक थे। अहिंसा के विषय में परिश्रम के लिए जितना साहित्य टाल्स्टाय ने लिखा है, जहां तक मैं जानता हूं, उतना हृदय-स्पर्शी साहित्य किसी दूसरे ने नहीं लिखा है—उससे भी आगे जाकर कहता हूं कि अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन जितना टाल्स्टाय ने किया था और उसका पालन करने का जितना प्रयत्न टाल्स्टाय ने किया था, उतना प्रयत्न करने-वाला आज हिन्दुस्तान में कोई नहीं। ऐसे किसी आदमी को मैं नहीं जानता।"

टाल्स्टाय की एक और विशेषता की ओर गांधीजी ने निर्देश किया है। वह लिखते हैं, "दूसरी एक अद्भुत वस्तु का विचार टाल्स्टाय ने लिख-कर और अपने जीवन में उसे ओत-प्रोत करके कराया है। वह वस्तु है 'ब्रैड लेबर'! ...जगत में जो असमानता दिखाई पड़ती है, दौलत और कंगालियत नजर आती है, उसका कारण यह है कि हम अपने जीवन का

कानून भूल गये हैं। यह कानून 'ब्रैड लेबर' है। गीता के तीसरे अध्याय के आधार पर मैं उसे यज्ञ कहता हूं। गीता ने कहा है कि बिना यज्ञ किये जो खाता है, वह चोर है, पापी है। वही चीज टाल्स्टाय ने बतलाई है।··· उन्होंने कहा है, लोग परोपकार करने के लिए प्रयत्न करते हैं, उसके लिए पैसे खरचते हैं और लक्राव लेते हैं, परन्तु ऐसा न करके थोड़ा-सा काम करें, अर्थात दूसरों के कंधों पर से नीचे उतर जायं तो वस यही काफी है।

"ऐसी बात नहीं है कि टाल्स्टाय ने जो कहा, वह दूसरों ने नहीं कहा हो, परन्तु उसकी भाषा में चमत्कार था, क्योंकि जो कहा, उसका उन्होंने पालन किया। गद्दी-तकियों पर वैठने वाले मजदूरी में जुट गये, आठ घंटे खेती का या दूसरी मजदूरी का काम उन्होंने किया। इससे यह न समझें कि उन्होंने साहित्य का कुछ काम ही नहीं किया। जब से उन्होंने शरीर की मेहनत का काम शुरू किया तव उनका साहित्य अधिक सुशोभित हुआ। उन्होंने अपनी पुस्तकों में जिसे सर्वोत्तम कहा है, वह है 'कला क्या है ?'— यह उन्होंने इस काल की मजदूरी में से वचे समय में लिखी थी। मजदूरी से उनका शरीर घिसा नहीं और ऐसा उन्होंने स्वयं माना कि उनकी बुद्धि अधिक तेजस्वी हुई है।

हम सब समाधि के इर्द-गिर्द ऐसे खड़े थे, जैसे किसी के पास कहने को कोई शब्द ही न हो—मौन, निस्तब्ध। उस सादगी में जो ऊंचाई थी, जो पवित्रता थी, उसने हमारी मानसिक चेतना को मानो मुग्ध कर दिया था।

जो क्षण वहां बीते, उन्हें शब्दों में बांधना कठिन है। सारा वातावरण अलौकिक था। समाधि के चारों ओर प्रहरी की भांति खड़े वृक्ष पुष्पांजलि अर्पित कर रहे थे। मुक्त पवन दैवी संदेश सुना रहा था और मौन मुखरित होकर सहस्रों मुखों से अपनी बात कह रहा था।○

२ | दीनों के बन्धु

सी० एफ० एण्ड्रयूज के दर्शन करने या उनसे लम्बी चर्चाएं करने का अवसर मुझे अधिक नहीं मिला, लेकिन श्रद्धेय बनारसीदासजी चतुर्वेदी के मुंह से उनके भारत के प्रति प्रेम तथा उनके जीवन के मानवीय पक्ष के बारे में इतना सुना था कि उनके लिए मेरे हृदय में सहज ही आकर्षण पैदा हो गया। जब बहन मार्जरी साइक्स चतुर्वेदीजी के साथ मिलकर एण्डयूज की जीवनी लिखने के सिलसिले में हम लोगों के साथ कुण्डेश्वर में कुछ दिन रहीं तब तो अधिकांश समय उन्हींकी चर्चा होती रही। भारत के प्रति उनकी निष्ठा मुझे विभोर कर देती है। जन्म उनका इंगलैण्ड में हुआ था और वहीं उन्होंने उच्च शिक्षा पाप्त की, लेकिन आगेचलकर उन्होंनेभारत और उसके हितों के साथ अपने को इतना एकाकार कर दिया कि वह भारत के अभिन्न अंग बन गये। उनके संबंध में महात्मा गांधी ने कहा था, "सी० एफ० एण्ड्रयूज से बढ़कर अधिक सच्चा, उनसे बढ़कर विनम्र और उनसे अधिक भारत-भक्तदूसरा देश-सेवक इस भूमिमें विद्यमान नहीं है।"

और लाला लाजपतराय ने कलकत्ते की विशेष कांग्रेस में अपने उद्गार इन शब्दों में प्रकट किये थे, "केवल एक अंग्रेज ऐसा है, जिसका नाम हमें कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए, वह हैं मि० एण्ड्रयूज, और वह हमारे घर के ही हैं।"

दो महापुरुषों की ही ये आंतरिक भावनाएं नहीं थीं, इनके द्वारा मानों भारत के कोटि-कोटि नर-नारियों ने अपनी कृतज्ञता व्यक्त की थी।

एण्ड्रयूज सन् १६०४ में भारत आये थे और तब से लेकर सन् १६४० तक उन्होंने अपने जीवन के ३६ वर्षों का प्रत्येक क्षण भारत की सेवा में व्यतीत किया। इतना ही नहीं, उन्होंने इस देश की भूमि को अपनी मातृ-भूमि के समान प्रेम किया। १ जून सन्१६२१ के यंग इंडिया में गांधीजी ने लिखा था, "यूरोप के पावों में पड़ा हुआ अवनत भारत मानव-जाति को कोई आशा नहीं दे सकता, किन्तु जाग्रत और स्वतंत्र भारत दर्द से कराहती हुई दुनिया को शांति और सद्भाव का संदेश अवश्य देगा।"

एण्ड्रयूज इस बात से पूरी तरह सहमत थे और यही कारण था कि जब हमारे देश के अनेक नेता भारत के लिए औपनिवेशिक दर्जे से ही संतुष्ट थे, मि० एण्ड्रयूज ने पूर्ण स्वाधीनता का समर्थन किया था।

चार्ल्स फ्रीयर एण्ड्रयूज का जन्म १२ फरवरी १८७१ को इंग्लैण्ड के न्यूकासिल नगर में हुआ था। वह बड़े मेधावी बालक थे। उनके पिता उनको घूमने के लिए अपने साथ ले जाते थे और उन्हें इतिहास, राजनीति तथा धर्म की बातें सुनाया करते थे। भारत के गदर की भी घटनाएं बताया करते थे। इन रोमांचकारी बातों को सुनकर बालक चार्ली की कल्पना-शक्ति जाग्रत हो गई। एक दिन उन्होंने घर लौटकर अपनी मां से कहा, "मां, मुझे खाने के लिए रोज थोड़े-से चावल दिया करो। मैं बड़ा होकर भारत जाऊंगा। पिताजी कहते हैं कि वहां सब लोग चावल खाते हैं। इस-लिए जाने से पहले इसकी आदत पड़ जानी चाहिए।"

अपने बच्चे की इस अप्रत्याशित कल्पना पर मां को हंसी आ गई। बोली, "पागल कहीं का !" मां ने उस दिन स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उसके चार्ली ने जो कहा था, वह आगे चलकर सत्य सिद्ध होगा।

भारत के प्रति उनका प्रेम और आकर्षण दिनोंदिन बढ़ता गया। अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद वह क्रिश्चियन सोशल यूनियन की कैम्ब्रिज शाखा में काम करने लगे। इस संस्था के सभापति वैस्टकाट नामक सज्जन थे, जो दलित और शोषित मजदूरों की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते थे। उनके प्रभाव से एण्ड्रयूज का ध्यान दीन-दुखियों की ओर गया। भारत के

प्रति भी उनकी आस्था वढ़ी। अपने संस्मरणों में एक बार एण्ड्रयूज ने लिखा, "वैस्टकाट ग्रीस और भारत को समान स्तर पर रखते थे। उनका कहना था कि इन्हीं दो महान विचारशील राष्ट्रों ने विश्व-इतिहास की रचना की है। जिस प्रकार ग्रीस ने समस्त यूरोप का नेतृत्व किया, उसी प्रकार भारत सदा एशिया का पथ-प्रदर्शक रहेगा। उन्हें आशा थी कि भारतीय विचारक ही सेंटजान की वार्त्ता का पूरा-पूरा भाष्य कर सकेंगे।"

एण्ड्रयूज केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पैम्ब्रोक कालेज के फैलो वना लिये गये और वाद में थियालाजी विभाग के वाइस प्रिंसीपल भी हो गये। लकिन उन्हें उस जीवन में रुचि नहीं हुई। उन्हें लंदन के गरीव भाई-वहनों की सेवा में विशेष आनंद आता था। अपने जीवन के चार वर्ष उन्होंने मजदूरों के बीच विताये। वह दस शिलिंग प्रति सप्ताह में अपनी गुजर करते थे। कभी-कभी पैसा न होने से उन्हें भूखे रहना पड़ता था। इस तरह उन्होंने अनुभव किया कि गरीवों को पेट भरने मेंकितनी कठिनाई होतीहै।

२० मार्च १९०४ को उनका द्वितीय जन्म हुआ। वह केम्ब्रिज मिशन के मिशनरी वनकर भारत आये और आते ही सेंट स्टीफंस कालेज में अध्यापक हो गये। साल भर वाद जव उनको उस कालेज का प्रिंसिपल वनाने का प्रस्ताव आया तो उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि इस कालेज में श्री सुशील कुमार रुद्र बीस साल से प्रोफेसर हैं और इस पद के लिए उनमें पूर्ण क्षमता है। अगर वर्णभेद के कारण उन्हें यह पद न देकर किसी अंग्रेज को दिया गया तो मैं कालेज में काम करना छोड़ दूंगा। उनकी त्याग-वृत्ति तथा न्यायप्रियता का परिणाम यह हुआ कि प्रो० रुद्र को ही उस पद पर आसीन किया गया।

कुछ दिनों में ही एण्ड्रयूज इस नतीजे पर आये कि यदि कोई अंग्रेज भारत की कुछ भलाई करना चाहता है तो उसे धन, पद तथा नेतृत्व के लालच से बचना चाहिए, उसे सेवक बनना चाहिए, शासक या नेता नहीं।

उनका झुकाव भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की ओर होने लगा। सन् १९०६ में वह कलकत्ता-कांग्रेसमें सम्मिलित हुए। उसी समय उनका परि-

चय गोखले से हुआ। सन् १९१३ में जब दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी का सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था, गोखले ने भारत में उनकी सहायता के लिए आंदोलन किया और चंदा इकट्ठा किया। एण्ड्रयूज ने इस काम में उनकी खूब मदद की। अपने जीवन भर की कमाई के चार हजार रुपये गोखले को चंदे में दे दिये। वह गोखले के कहने पर दक्षिण अफ्रीका भी गये और वहां उन्होंने जनरल स्मट्स के साथ गांधीजी का समझौता कराने में बड़ी सहायता की।

सन् १९१४ में वह शांतिनिकेतन पहुंच गये और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सानिध्य में रहने लगे। वहां उन्हें वह शरण-स्थल मिल गया, जिसकी आकांक्षा उनके मन में रही थी।

भारत के साथ उनका कितना गहरा नाता जुड़ गया था, उसकी कल्पना एक घटना से की जा सकती है। अधिक परिश्रम और भाग-दौड़ से एक बार उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। उनके मित्रों ने सलाह दी कि वह इंगलैण्ड चले जायं और वहां शांति से बैठकर कुछ लिखें। एण्ड्रयूज ने तत्काल उत्तर दिया, "नहीं, मैं हिन्दुस्तान को छोड़कर और कहीं जा बैठने की सोच ही नहीं सकता।" जिस सर्जन ने उनका आपरेशन किया, उसने भी जब दूसरा आपरेशन लंदन में कराने का अनुरोध किया तो उन्होंने कहा, "मैं अपना असली घर नहीं छोड़ सकता। जो होना होगा, वह हिंदुस्तान में ही होगा।"

उनके इस कथन के पीछे क्षणिक भावुकता नहीं थी, बल्कि यह अनुभूति थी कि उनके देशवासियों ने भारत के साथ जो पाप किया है, चाहे वह जान-बूझकर किया हो, या अनजान में, उसका उन्हें प्रायश्चित करना ही चाहिए। इसके लिए उन्होंने कई प्रकार से साधना की। उन्होंने अपने जीवन में सतत् प्रयत्न किया कि अंग्रेजों में उच्चता का जो दंभ है, उसे मिटा दें और गोरे लोग इस बात को समझ लें कि रंग के कारण कोई छोटा-बड़ा नहीं होता।

उनकी सेवा का दूसरा रूप था भारत में दीन-दुखियों और दलितों की

सेवा करना तथा अफ्रीका, फीजी, न्यूजीलैण्ड आदि में प्रवासी भारतीयों पर जो अत्याचार हो रहे थे, उन्हें दूर करना। अपने इन प्रयासों के कारण ही वह 'दीन-बंधु' कहलाये।

इसके अतिरिक्त अपने ईसाई धर्म-प्रचारकों को भारत की उस सम्पन्न आध्यात्मिक विरासत को दिखाना भी उन्होंने अपना कर्तव्य माना, जिसकी ओर प्रचारकों ने कभी ध्यान ही नहीं दिया था और जिसे उन्होंने गलत समझा था और लोगों को गलत समझाया था।

उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण सेवाओं में फीजी की शर्तबंद कुली प्रथा को बंद कराना था। यह प्रथा सन् १८३५-३६ से चल रही थी और उसके कारण असंख्य भारतीय नर-नारियों का नैतिक पतन हुआ था। गुलामी की इस अमानवीय प्रथा को बंद कराना बड़ा कठिन काम था। लेकिन एण्ड्रयूज ने इतने जोर का आंदोलन किया कि शासन को विवश होकर उसे बंद करना पड़ा।

मजदूरों के साथ उनकी प्रारंभ से ही सहानुभूति रही थी। उनकी दशा में सुधार करने के लिए जो आंदोलन हुए, उनमें उनका विशेष हाथ रहा। पंजाब के हत्याकाण्ड के बाद फौरन वह वहां पहुंच गये और अत्याचार पीड़ित लोगों के बीच बड़ा काम किया।

गुरुदेव और गांधीजी के प्रति उनका असीम प्रेम था। यह नहीं कि वह उनकी प्रत्येक बात से सहमत ही होते थे, कई अवसरों पर उनसे मत-भेद भी हो जाते थे और वह अपने विरोध को प्रकट किये बिना नहीं रहते थे, लेकिन इससे उनके प्रेम में कोई फर्क नहीं पड़ता था। गांधीजी उनके लिए 'मोहन' थे और गांधीजी के लिए वह 'चार्ली' थे। दक्षिण अफ्रीका में जब उन्होंने पहली बार गांधीजी के दर्शन किये तो उनकी पदरज लेकर मस्तक पर लगा ली। एक काले आदमी के प्रति श्वेत व्यक्ति की इस भक्ति को गोरे लोगों ने अपना अपमान समझकर एण्ड्रयूज की तीव्र निंदा की, पर इसका एण्ड्रयूज पर कोई असर नहीं हुआ। गांधीजी की महानता को उन्होंने एक क्षण में पहचान लिया। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने गांधीजी की

सहायता करने के लिए जनरल स्मट्स को हैरान कर डाला। अंतिम समझौते पर जिस समय हस्ताक्षर होने वाले थे, गांधीजी को तार मिला कि कस्तूर बा बहुत बीमार हैं। लेकिन गांधीजी ने कहा कि जबतक स्मट्स के हस्ताक्षर नहीं हो जायंगे, मैं नहीं जाऊंगा। एण्ड्रयूज दौड़कर स्मट्स के पास गये और उनसे तत्काल हस्ताक्षर करा दिये। यरवदा जेल में गांधीजी के उपवास के समय उन्होंने रेजीनाल्ड मैक्सवेल को इतना तंग किया कि उन्हें विवश होकर गांधीजी को रिहा कर देना पड़ा।

ऐसे एक-दो नहीं, बीसियों सेवा-कार्य उन्होंने किये। उनका जीवन धर्म-निष्ठ था। उनकी सादगी अद्वितीय थी। उनकी सहिष्णुता, उनका प्रेम, उनकी सचाई अद्भुत थी। उनके हृदय में प्रेम, दया और करुणा लबालब भरी थी। एक बार बचपन में वह कहीं से लौटते समय चिड़ियों के अंडे उठा लाये थे। उनकी मां ने जब देखा तो दुखित होकर कहा, "चार्ली, यह तूने क्या किया! इनकी मां तड़प रही होगी। अभी जा और इन्हें वहीं रख आ।" इसका उनके बाल-मन पर इतना गहरा असर हुआ कि उस दिन से उन्होंने कभी किसी को नहीं सताया। पशु-पक्षियों तक पर मातृवत् स्नेह किया।

भारत और उसकी महान् परम्पराओं को पुनः उनका गौरवशाली स्थान दिलाने के लिए इस महान् व्यक्ति ने क्या था, जो नहीं किया। गीता और उपनिषदों से वह बराबर प्रेरणा लेते थे। एक बार चर्चा में उन्होंने कहा, "मैं गीता पर अधिकाधिक विचार करता हूं। कितना सुंदर विचार है कि पाप के साथ मनुष्य का शाश्वत युद्ध है। भौतिक धरातल पर जो युद्ध होते हैं, उन्हें हम जानते हैं, लेकिन इनसे कहीं जबर्दस्त युद्ध हमारे आध्यात्मिक धरातल पर हो रहे हैं और इनसे हम अविराम रूप से लड़ रहे हैं।"

अपने अंतिम समय में उन्होंने रुग्ण-शैया पर पड़े हुए कहा था, "आज हम उपनिषद् की यह महान् प्रार्थना करें—असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।"

भारत के गौरव और प्रतिष्ठा का दर्शन उन्हें ग्रामीणों की सहज पावनता में मिलता था। यही पावनता उन्हें भारत के संतों और ऋषियों में दिखाई देती थी। वह इस कविता का पाठ बराबर करते थे :

प्रेम से क्रोध को जीतो,
भलाई से बुराई को जीतो,
उदारता से लोभ को जीतो,
सत् से असत् को जीतो।

भारत की स्वतंत्रता का दावा करने वाले इस शताब्दी में पहले व्यक्ति दीनबंधु एण्ड्रयूज ही थे। इस भूमि की महिमा का वर्णन करते हुए एक लेख में उन्होंने लिखा था, "गंगा के निर्मल और अर्धपारदर्शी जल के किनारे-किनारे तीर्थ-यात्रियों का प्राचीन पथ है, जहां से वह उत्तुंग चढ़ाई प्रारंभ होती है, जो अनंत हिमराशि तक पहुंचा देती है। वह मातृभूमि जीर्ण-शीर्ण तथा शोकाकुल नहीं है, बल्कि अक्षय यौवन के वसंत से चिर नवीना और चिर युवा है।"○

३ | वह समर्पित व्यक्तित्व

कुमारी म्यूरियल लीस्टर का नाम मैं कई बार सुन चुका था। गांधीजी के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होकर जो परदेसी भाई-बहन उनके मार्ग के अनुगामी बन गये, उनमें यह बहन भी एक थीं। गहरी आत्मीयता और असीम अनुराग से उत्प्रेरित होकर वह अनेक बार इस देश में आईं और गांधीजी के सान्निध्य में रहीं। द्वितीय गोलमेज परिषद में सम्मिलित होने के लिए जब गांधीजी लंदन गये तो उनके मेजवान बनने का दुर्लभ लाभ इन्हीं कुमारिका को मिला।

सन १९५७ में अपने विदेश-प्रवास के दौरान मास्को से अन्य देशों के भ्रमण का कार्यक्रम बनाते समय लंदन का नाम आया तो मुझे सहज ही म्यूरियल लीस्टर का स्मरण हो आया। मास्को-स्थित भारतीय दूतावास के तत्कालीन कौंसल श्री रत्नम की पत्नी कमलाबहन से जब उनकी चर्चा आई तो उन्होंने कहा कि लंदन में आप म्यूरियल से अवश्य मिलें। उन्होंने उनके नाम एक पत्र भी लिखकर दे दिया।

लंदन पहुंचने के अगले दिन ही मैंने कमलाजी के पत्र को डाक से म्यूरियल को भेज दिया। साथ ही यह भी लिख दिया कि मैं लंदन पहुंच गया हूं, अमुक स्थान पर ठहरा हूं और घर का फोन नम्बर यह है। आप कृपया पत्र पाते ही सूचना दीजिये कि मैं कब मिलने आऊं?

तीसरे दिन शाम को जब मैं अपने मेजबान नारायण स्वरूप शर्मा और उनकी पत्नी उर्मिला से बातें कर रहा था कि फोन की घंटी बजी। चोगा उठाया तो उधर से किसी महिला की आवाज सुनाई दी:

"क्या मैं यशपाल जैन से बात कर सकती हूं ?"

"जी, मैं बोल रहा हूं।"

"अच्छा, नमस्कार, मैं म्यूरियल लीस्टर हूं। आपकी चिट्ठी मुझे मिल गई है। आपको यात्रा में कोई कठिनाई तो नहीं हुई ?"

"जी, नहीं, आपकी कृपा से यात्रा बड़े आनन्द से हुई।" मैंने कहा, "आप कैसी हैं ?"

"ठीक हूं। क्या कल शाम को आप मेरे घर आ सकेंगे ?"

"कितने बजे ?"

"यही कोई चार बजे। क्यों, आपको कोई असुविधा तो नहीं होगी ?"

"जी, नहीं।"

लंदन से वह बहुत दूर लाउटन में रहती थीं। वहां पहुंचने में मुझे कोई असुविधा न हो, इसलिए अपने घर तक पहुंचने की पूरी जानकारी उन्होंने नारायणस्वरूप शर्मा को दे दी, जो मेरे साथ उनके यहां जानेवाले थे।

फोन पर म्यूरियल से जो थोड़ी-बहुत बातचीत हुई, उससे मुझे अच्छा लगा। उनके स्वर में न केवल माधुर्य था, अपितु उनकी वाणी में बड़ी हार्दिकता थी। लंदन के शिष्टाचार से परिपूर्ण जीवन में मेरे लिए यह एक नया और सुखद अनुभव था।

अगले दिन हम लोग सुरंग की रेल से रवाना हुए। एसैक्स के जिस इलाके में वह रहती थीं, वह लंदन से चालीस-पचास मील होगा। हमें इसका पता था, इसलिए उसी अंदाज से चले। कोई पौन घंटे, घंटे भर रेल से सफर करके बस पकड़ी, जिसने एक छोटी-सी पहाड़ी के निकट उतार दिया। बस कंडक्टर ने पहाड़ी की ओर संकेत करके बताया कि सड़क से ऊपर चले जायं। थोड़ी दूर पर बाल्डविन रोड मिल जायगी।

बस से उतर कर ऊंचाई के रास्ते पर चले। थोड़ी-थोड़ी वर्षा हो रही थी। आकाश काले बादलों से आच्छन्न था। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। सड़क एकदम सुनसान थी। हम लोगों को पहले ही कुछ देर हो चुकी थी। बड़ी मुश्किल से बाल्डविन रोड मिली, लेकिन उसके मकानों पर

नम्बर नहीं थे और कहीं कोई आदमी दिखाई नहीं दे रहा था। पूछें तो किससे ? मेंह में भीगते और जाड़े से ठिठुरते हमलोग हरियाली से सुशोभित उस निर्जन सड़क पर इधर-उधर चक्कर काटते रहे, परिणाम यह हुआ कि अंत में जब मकान ढूंढ़ निकालने में सफल हुए, दो घंटे का विलम्ब हो चुका था।

४६ नम्बर के उस छोटे से मकान की घंटी बजाते समय हमारा दिल धड़क रहा था। आखिर प्रतीक्षा की भी तो हद होती है ! पता नहीं, म्यूरियल क्या सोच रही होंगी !

घंटी की आवाज सुनते ही जिन्होंने विना किसी उतावली के द्वार खोला, वे स्वयं म्यूरियल लीस्टर थीं। हमारा स्वागत और अभिवादन करती हुई वोलीं, "मैं जानती थी कि ऐसे मौसम में आने में आपको देर हो सकती है।"

मैंने कहा, "हमें बड़ा खेद है कि आपको इतनी राह देखनी पड़ी।"

वड़े प्यार से वह बोलीं, "मेंह वरसते में भी आप आ गये, यह हमारे लिए थोड़ी वात नहीं है।"

दुवला-पतला शरीर, पर वेहद फुर्तीला, सौम्य-शांत चेहरा, प्रेमल, स्वभाव वेहद सादी पोशाक—यह थीं म्यूरियल। मकान में घुसते ही मानो उन्होंने हमें जीत लिया। मैं वरसाती ओढ़े हुए था, इसलिए कम भीगा था, लेकिन नारायण का कोट पानी से सरावोर हो गया था। अन्दर कमरे में पहुंचते ही म्यूरियल ने वड़ी फुर्ती से सहारा देकर उनका कोट उतरवाया और हीटर के सामने कुर्सी की पीठ पर उसे सूखने के लिए फैला दिया।

इसके उपरांत हम उनके छोटे से ड्राइंग रूम में वैठकर बातें करने लगे। गांधीजी की वह अनन्य भक्त थीं और मैं गांधीजी के देश से वहां पचा था, फलतः बैठते ही गांधीजी के विषय में चर्चा छिड़ गई। म्यूरियल जैसे किसी पुराने युग में पहुंच गईं। बोलीं, "सबसे पहले मैं गांधीजी से सन १९२६ में मिली थी। उस समय मैं उनके साथ एक महीने सावरमती आश्रम में रही। उन दिनों की एक-एक बात मुझे आज भी याद

है। कितना ऊंचा था उनका व्यक्तित्व। कितना व्यापक था उनका प्रेम। दूर देश से वहां गई थी, कोई परिचित भी न था; लेकिन क्षण भर के भीतर लगा कि मैं घर में और घरवालों के वीच हूं।"

कहते-कहते जैसे थोड़ी देर को वह खो गईं। फिरमानोएक साथ सोते से जगीं, बोलीं, "सन १९३१ में जव गांधीजी दूसरी गोलमेज परिषद में आने को हुए तो उन्होंने इच्छा प्रकट की कि वह यहां उस वर्ग के लोगों के बीच ठहरना पसन्द करेंगे, जिनके लिए उन्होंने हिन्दुस्तान में अपना जीवन समर्पित कर रक्खा है। उन्होंने हमारा आतिथ्य स्वीकार किया। गरीवों की वस्ती में, किंग्सले हाल में ठहरे। कोई तीन महीने हम सव साथ रहे। वड़ी चीजों में तो महानता प्रायः सभी दिखाते हैं, लेकिन गांधीजी छोटी-से-छोटी चीजों में भी कितने महान थे! ईस्ट-एंड की वस्ती के छोटे-बड़े सव के दिलों में उन्होंने अपना घर वना लिया।"

म्यूरियल की आंखें चमक उठीं, चेहरा दमक उठा, मानो एक वार वह पुनः गांधीजी की भौतिक काया के दर्शन कर रही हों।

फिर कुछ सुस्थिर हुईं तो बोलीं, "हमारे दिलों को तो उन्होंने पूरी तरह जीत लिया। सन १९३४ में मैं फिर भारत पहुंची। विहार में भूकम्प से उन दिनों वड़ी वरवादी हो गई थी। गांधीजी मुझे अपने साथ विहार ले गये। वाद में जव उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण के सिलसिले में दौरा किया तो उसमें भी मैं उनके साथ रही। मैं वहुत घूमी हूं—अमरीका, चीन, जापान और वहुत-से देशों में गई हूं; पर गांधीजी का सत्संग कुछ और ही महत्व रखता था।"

धीमी आवाज में एक के बाद एक वह वहुत से संस्मरण सुनाती रहीं। ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई अवरुद्ध स्रोत खुल गया हो।

उस आडम्वरहीन ड्राइंग रूम में फर्नीचर के नाम पर तीन कुर्सियां और एक छोटी-सी मेज थी। हां, एक आराम-कुर्सी और थी, जिसपर बैठी हुई वह दशाब्दियों पहले की अपनी स्मृतियों को सजीव कर रही थीं। सामने की दीवार पर गांधीजी का एक चित्र टंगा था।

संस्मरणों की श्रृंखला अबाध गति से चलती रहती, यदि बीच में ७० वर्ष की उनकी छोटी बहन डारिस न आ गई होतीं। उन्होंने डारिस से हमारा परिचय कराया। फिर बोलीं, "डारिस, मेहमानों को घर दिखाने का काम तुम करो।"

बड़ी बहन की भांति उन वृद्धा-युवा बहन के साथ हम लोगों ने पहले नीचे का हिस्सा देखा, जिसमें एक गुसलखाना, रसोई तथा एक छोटा-सा कमरा था। फिर जीने से ऊपर की मंजिल में गये। ऊपर की मंजिल क्या थी, एक कमरा था, छोटा-सा, जिसमें एक ओर को आलमारीमें कुछ पुस्तकें रक्खी थीं और उसके निकट ही म्यूरियल के सोने के लिए एक पलंग पड़ा था। हर चीज से सादगी टपकती थी, पर साथ ही यह भी महसूस होता था कि म्यूरियल बड़ी हा कला-प्रेमी हैं। डारिस ने पलंग की ओर संकेत करके कहा, "यह पलंग आपको कुछ ज्यादा ऊंचा लगता होगा। म्यूरियल ने जान-बूझकर इसे इतना ऊंचा बनवाया है। जानते हैं क्यों? इसलिए कि सवेरे उठते ही, बिस्तर पर बैठे-बैठे, वह खिड़की में से सबसे पहले बगीचे के फूलों को देख सकें। फूलों को म्यूरियल बहुत प्यार करती हैं। एक बात और बताऊं। म्यूरियल ने सवेरे जगाने के लिए बड़ी बढ़िया एलार्म घड़ी लगा रक्खी है। देखेंगे?"

कौतूहल से मैंने कहा, "जरूर।"

डारिस हंस पड़ीं। खिड़की के सहारे टीन की एक नली दिखाकर बोलीं, "म्यूरियल की एलार्म घड़ी चिड़ियां हैं। हम लोग चुगने के लिए इस नली में दाना डाल देते हैं। चिड़ियां सवेरे यहां आकर चहचहाती हुई दाना चुगती हैं और खिड़की के शीशे से चोंच खटखटाती हैं। बस, म्यूरियल जग जाती हैं। चिड़ियां उन्हें बेहद पसन्द हैं।"

यह सब देख-सुनकर हृदय गद्गद् हो गया। छोटी-छोटी चीजें हमारे जीवन को कितना सरस और आनन्दमय बना सकती हैं, उसका यह एक सुन्दर उदाहरण था। म्यूरियल के कला-प्रेम की भी मन पर गहरी छाप पड़ी।

नीचे आये तो म्यूरियल ने कहा, "डारिस, हम लोग बातों में ऐसे डूब गये कि मैंने मेहमानों से कॉफी के लिए भी नहीं पूछा। पर सुनो भाई, आप लोग खाना खाकर जायेंगे।"

उनके आग्रह-भरे निमन्त्रण को हमने खुशी-खुशी स्वीकार किया। हमारी रजामन्दी पाकर म्यूरियल बोली, "देखिये, हम लोग अपना काम खुद करते हैं। डारिस और शर्मा काफी बनावेंगे। मैं और आप टोस्ट सेकेंगे। ठीक है न ?"

उनके यहां सचमुच कोई नौकर नहीं था। सफाई, खाना बनाना, आदि-आदि सारे काम वे स्वयं करती थीं।

हम लोगों ने मिलकर भोजन तैयार किया। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ। काम करते-करतेबातें करने का सहज अवसर मिल गया। म्यूरि-यल ने साबरमती, से वाग्राम, विहार आदि के बहुत से संस्मरण सुनाये। बोलीं, "जाने कितनी बातें याद आती हैं गांधीजी की। वह वास्तव में महापुरुष थे। एक बार मैंने सुना, वह किसी से कह रहे थे, 'जिसे नेतृत्व का कार्य करना होता है, उसे क्रोध में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए। नेता को अपने लिए किसी चीज के पाने की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए—न पुरस्कार की, न पद की, न आमोद की और उसे चौबीसों घंटे भगवान का स्मरण रखना चाहिए।' उनके लिए सत्य परमेश्वर था और परमेश्वर तक पहुंचने का मार्ग अहिंसा थी।"

हाथ उनके फुर्ती से काम करते जाते थे। बोलीं, "हां, देवदास[1] का क्या हाल है ?"

मैंने कहा, "वह तो अब इस दुनिया में नहीं हैं।"

सुनकर वह स्तब्ध-सी रह गईं। बोलीं, "यह क्या हो गया ? उनके साथ मेरा बड़ा सम्पर्क रहा था। मैं तो सोच रही थी कि इस बार दिल्ली आऊंगी तो उनसे जरूर मिलूंगी। पर···अचानक ऐसा कैसे हो गया ?

---

१ देवदास गांधी महात्मा गांधी के लड़के

क्या वह बीमार थे ?"

मैंने कहा, "नहीं, वह बीमार नहीं थे। पहले उनकी तबीयत खराब रही थी। अब ठीक थी। असल में वह काम बहुत करते थे। रात देखते थे, न दिन। आखिर शरीर कबतक सह सकता था ! मद्रास गये थे, वहां से बम्बई। दिल्ली लौटनेवाले थे। अकस्मात दिल की धड़कन बन्द हो गई।"

म्यूरियल ने कहा, "बड़ा बुरा हुआ, पर यह अच्छा है कि आदमी हाथ-पैर के चलते-चलते चला जाय। इसे मैं ईश्वरीय वरदान मानती हूं, पर देवदास की तो उम्र कुछ भी नहीं थी।"

सारा वायुमण्डल बड़ा भारी हो गया। शायद इस बात को उन्होंने अनुभव किया। अतः विषय बदलते हुए बोलीं, "विनोबाजी का और भूदान का क्या समाचार है ?"

मैंने उन्हें विस्तार से सब बातें बताईं। वह बोलीं, "विनोबाजी ऊंचे दर्जे के सन्त हैं और उन्होंने जो काम उठाया है, वह हिन्दुस्तान की ही नहीं, दुनिया की भलाई का है। आखिर दुनिया प्यार और सद्भाव पर ही टिकी रह सकती है।"

खाना तैयार हो चुका था। हम लोग साथ-साथ खाने बैठे। डबल-रोटी, मक्खन और कॉफ़ी के अलावा कुछ कच्ची चीजें थीं—गाजर, खीरा और बंदगोभी के पत्ते। खाना खाते-खाते म्यूरियल बोलीं, "गांधीजी ने एक बार कहा था, 'मैं सौ साल जीना चाहता हूं और यही उम्मीद मैं अपने दोस्तों और संगी-साथियों से करता हूं।' मुझे पक्का यकीन है कि वह जरूर सौ साल जी सकते थे, और ज्यादा भी जी सकते थे; पर भगवान् को मंजूर न हुआ।... (कुछ रुक कर) लेकिन हम लोगों से उन्होंने जो इच्छा की थी और उम्मीद रखी थी, उसे मैं पूरी करना चाहती हूं। अभी उनका बहुत-सा काम करने को बाकी पड़ा है न !"

भोजन के बाद हमने बर्तन साफ़ किये। बातचीत का सिलसिला फिर शुरू हो गया। रात काफी हो गई थी और वह ऐसे बात किये जा रही थीं, जैसे उनका अंत ही नहीं होगा।

हम लोग चार घंटे साथ रहे। दोनों बहनों के असामान्य संयम की झलक उनके चेहरे से दिखाई देती थी। म्यूरियल ७३ वर्ष की थीं, पर उनका एक भी दांत नहीं उखड़ा था। डारिस ७० वर्ष की थीं और अपनी बहन की तपस्या में गहरी निष्ठा से योग देती थीं। म्यूरियल की निश्च्छल हंसी और चेहरे की दमक आज भी मुझे विभोर कर देती है।

हम लोगों ने विदा मांगी तो म्यूरियल ने मुझे अपनी दो पुस्तकें भेंट में दीं। एक थी 'गांधीजी ज़ी सिगनेचर', जिसमें उन्होंने गांधीजी के अपने संस्मरण दिये थे। दूसरी थी उनकी आत्म-कथा—'इट अकर्ड टू मी।' इस पर दोनों बहनों ने अपने हस्ताक्षर किये।

उसी समय एक और बहन वहां आ गईं। वे हमें बस के अड्डे तक पहुंचा गईं। थोड़ी देर में बस मिल गई। सारे रास्ते हमलोग म्यूरियल की चर्चा करते रहे। कितनी सादगी और उच्चता थी उनमें!

२

म्यूरियल का जीवन प्रारम्भ से ही वैभव से विमुख रहा था। उनके पिता जहाज बनाने की एक कंपनी में काम करते थे और अत्यन्त परिश्रम-शील थे। उनसे पास पैसे की कमी न थी। वे लोग लंदन से दूर एसैक्स में एक साफ़-सुथरे मोहल्ले में रहते थे, लेकिन शहर आते-जाते उन्हें उस पूर्वी बस्ती से गुज़रना पड़ता था, जहां ग़रीब लोग रहते थे और गंदगी की जिन्दगी बसर करते थे। म्यूरियल जब आठ वर्ष की थीं तो एक दिन किसी पार्टी से अपनी नर्स के साथ लौट रही थीं। अचानक उनकी निगाह पूर्वी लंदन के मकानों पर गई, जो बड़े गंदे दिखाई दे रहे थे, जिनसे बदबू आ रही थी और जिनके इर्द-गिर्द बाग-बगीचों का नाम-निशान तक न था। म्यूरियल के लिए ऐसे मकान अकल्पनीय थे। उन्होंने बाल-सुलभ विस्मय से अपनी नर्स से पूछा, "क्या इन मकानों में आदमी रहते हैं?"

नर्स ने उत्तर दिया, "क्यों नहीं, इनमें बहुत-से आदमी रहते हैं।"

संभवतः नर्स को सूचना थी कि वह बच्चों को ऐसी किसी बात की जानकारी न होने दे, जिससे उन्हें बुरा लगे या दुःख पहुंचे। अतः नर्स ने

आगे कहा, "पर तुम इसकी चिन्ता न करो। इन मकानों में रहनेवाले लोगों को ज़रा भी हैरानी नहीं होती। वे खूब खुश रहते हैं।"

कुछ समय वाद फिर म्यूरियल का ध्यान उस ओर गया और उन्होंने अपने प्रश्न को दोहराया। इस वार उत्तर मिला, "ये लोग बड़े मस्त हैं। यहां की गंदगी इन्हें बिल्कुल नहीं अखरती। अखरे भी तो क्या, आखिर यही लोग तो इसके लिए ज़िम्मेदार हैं। ये शराव में अपना पैसा उड़ा देते हैं। इसी से ग़रीव हैं।"

म्यूरियल ज्यों-ज्यों वड़ी होती गईं, उनके मन में यह विचार घर करता गया कि गरीव लोगों के रहन-सहन को कैसे ऊपर उठाया जाय और उनके जीवन में कैसे सुधार किया जाय। यही विचार धीरे-धीरे पल्लवित होता गया और आगे चलकर उसने उनकी ज़िन्दगी को एक नयी दिशा में मोड़ दिया।

म्यूरियल पांच भाई-वहन थे। दो वड़ी वहनों का विवाह हो गया था। म्यूरियल और उनकी छोटी वहन डारिस आजन्म अविवाहित रहीं। उनके एक ही भाई था किंग्स्ले। वह सवसे छोटा था। म्यूरियल उसे वेहद प्यार करती थीं। वह अपनी आत्म-कथा में लिखती हैं, "मुझे इस वात का वड़ा डर लगा रहता था कि कहीं किंग्स्ले वड़ा होकर शराव न पीने लगे, वुरी सोहवत में न पड़ जाय और कहीं वह भगवान को न विसरा दे। जव वह कैम्ब्रिज में पढ़ने जाने को था तो न जाने किन-किन वुराइयों की कल्पना करके मैं परेशान होने लगी। अंत में टाल्स्टाय ने मेरा उद्धार किया। किसी के घर में मुझे टाल्स्टाय की एक पुस्तक मिली 'स्वर्ग का साम्राज्य तुम्हारे अन्तर में है।' उस पुस्तक ने मेरे जीवन के मूल्य ही वदल दिये। उसमें ईसा के इन शब्दों पर "किसी के काज़ी मत वनो" एक लम्वा अध्याय था। जव मैंने उसे मनोयोगपूर्वक पढ़ा तो चिन्ता पैदा करने वाले विचारों का वोझ मेरे मन पर से उतर गया। मैंने अनुभव किया कि जवतक किंग्स्ले या कोई दोस्त जिसे सही मानता है, उस रास्ते पर चलता है, मुझे उनको आदर देना चाहिए।"

आगे वह लिखती हैं, "उस किताव में एक और अध्याय था—'चिन्ता न करो', उसे पढ़कर मैंने उन परंपराओं, आकांक्षाओं, आडम्बरों तथा भयों को सदा के लिए तिलांजलि देने का निश्चय कर लिया, जो हमारे अन्दर संघर्ष पैदा करते हैं।"

म्यूरियल के पिता वड़े ही धर्म-परायण व्यक्ति थे, लेकिन उनका धर्म कर्मकाण्ड तथा रूढ़ियों से आवद्ध नहीं था। वह अपनी वाणी, कर्म तथा लेखनी से यह दिखाने का वरावर प्रयत्न करते थे कि ईश्वर का सार-तत्व प्रेम है। वह वाइविल की कथा-कहानियों की ओर विशेष ध्यान दिया करते थे और हर रविवार को अपने वच्चों को वैसी कहानियां सुनाया करते थे।

अपनी पढ़ाई पूरी करने के वाद म्यूरियल को सेवा की धुन सवार हुई। वह अवसर मिलते ही पूर्वी लंदन की गंदी वस्ती में पहुंच जातीं और वहां के लोगों की जो कुछ सेवा कर सकतीं, करतीं।

सन् १९१० में वह अपने माता-पिता के साथ फ़िलिस्तीन गईं। उन्हें वताया गया था कि धर्म-स्थानों की हालत वड़ी वुरी है। लेकिन उनकी भयंकरता का अनुमान वह पहले नहीं लगा सकी थीं। जब वह वैथलहैम और जैरूसलम पहुंचीं और वहां के गिरजों की जीर्णता, दीवारों का उखड़ा पलस्तर और कीलों पर लगी जंग देखी तो उन्हें वड़ी चोट लगी।

लंदन लौटकर वह पुनः सेवा-कार्यों में जुट गईं। उनका और उनकी छोटी वहन डारिस का अव प्रायः पूर्वी लंदन की 'वो' नामक वस्तीही प्रमुख कार्य-क्षेत्र वन गई। इसी वीच उनके भाई किंग्स्ले का मन अपने व्यवसाय से उचटा और वह भी सन् १९१२ में अपनी वहनों के साथ आ मिला। तीनों ने मिलकर 'वो' वस्ती में एक मकान भाड़े पर ले लिया, लेकिन उन्होंने कुछ ही दिन काम किया कि किंग्स्ले को एपैंडिसाइटिस की शिकायत हो गई, जो उनके लिए प्राण-घातक सिद्ध हुई। छव्वीस वर्ष की उम्र में उस इकलौते भाई का देहान्त हो गया।

म्यूरियल को वड़ी पीड़ा हुई, पर उन्होंने उस दुःख में से शक्ति उत्पन्न

की। उन्हें किंग्स्ले के कार्य को आगे बढ़ाना था। वह और डारिस पूरी लगन और उत्साह से समाज के पिछड़े वर्ग को समुन्नत करने में लग गईं। किंग्स्ले के पास कुछ पैसा था। मरते समय वह लिखकर छोड़ गया कि उस पैसे को म्यूरियल और डारिस काम में लावें और उससे जो आमदनी हो, वह 'बो' के निवासियों की सेवा में खर्च की जाय।

एक दिन म्यूरियल के पिता ने कहा, "सेवा के लिए किसी सार्वजनिक स्थान का निर्माण करने से बढ़कर किंग्स्ले का कोई भी स्मारक नहीं हो सकता। अगर कोई मौके की अच्छी जगह हो तो मुझे बताओ। मैं उसे तुम दोनों बहनों के लिए खरीद दूंगा।"

इधर-उधर ढूंढ़ने से पश्चात् उन्हें एक हॉल मिला, जो खाली पड़ा था। वस्तुतः वह एक चैपल था। उसी को खरीद लिया गया और इस प्रकार सन् १९१५ में 'किंग्स्ले हॉल' की स्थापना हुई। किसी भी संस्था को जन्म दे देना आसान है, लेकिन चलाना बड़ा कठिन है। उसके लिए भारी साधना की आवश्यकता होती है। म्यूरियल एक स्थान पर लिखती हैं :

"किसी विचार को ईंट और चूने का जामा पहनाने में बहुतों को निराशा हो सकती है। अपनी नयी संस्था के लिए हम लोगों ने बड़ी मेहनत की। हमारे पास कुछ भी ऐसा न था, जिस पर हम गर्व कर सकते, पर जिस तड़प ने किंग्स्ले हॉल की स्थापना कराई थी, वह कभी खत्म नहीं हो सकी। हमें बड़े-बड़े अनुभव प्राप्त हुए—असफलता के, आनन्द के, प्रेम के और खतरे के।"

प्रारंभ में इस संस्था की मुख्य प्रवृत्ति थी संध्या को लोगों का वहां एकत्र हो जाना और स्वस्थ मनोरंजन में कुछ समय व्यतीत करना, लेकिन इतने भर से म्यूरियल को कहां संतोष होनेवाला था ! उन्होंने अपनी प्रवृत्तियों में वृद्धि की। वह तो उसे एक ऐसी संस्था का रूप देना चाहती थीं, जहां सामान्य स्थिति के लोग बिना वर्ण, वर्ग तथा विश्वास के भेद के रहें और सचाई की जिन्दगी बितायें।

'वो' का वह स्थान छोटा पड़ने लगा तो उन्होंने पाविस रोड पर एक बड़ी जगह ली। वहां म्यूरियल और कुछ अन्य व्यक्ति मिलकर सारा काम स्वयं करते। कोई फ़र्श की सफ़ाई करता, कोई खाना पकाता। उन्होंने कोई भी काम एक व्यक्ति को नहीं सौंपा। जिसे जो काम पड़ा दीखता, वह उसी को करने में लग जाता। "हमारे सामने एक दृष्टि थी", म्यूरियल लिखता हैं, "और वह यह कि हमें सबसे पहले ईश्वर की सेवा करनी है, फिर किंग्स्ले-हॉल की व्यवस्था करनी है। उसके बाद कहीं आती है हमारी निजी मर्ज़ी।" वे लोग सवेरे ठीक ६ बजकर ५० मिनट पर रसोई में पहुंच जाते थे। उनका हर काम इतनी नियमितता से होता था, जितनी नियमितता से कारखाने के मज़दूर अपना काम करते हैं। म्यूरियल लिखती हैं, "हम इस पूंजीवादी सिद्धान्त को भ्रामक सिद्ध करना चाहते थे कि निजी लाभ और बर्खास्तगी के डर से ही अच्छा काम कराया जा सकता है। वे लोग सारा काम स्वेच्छा से करते थे। उनके सामने न पैसे का लालच था, न यह डर कि वे अपना काम ठीक से नहीं करेंगे तो कोई उन्हें वहां से निकाल बाहर करेगा।"

इस प्रकार की निष्ठा बिना प्रार्थना के कैसे संभव हो सकती थी। सुबह-शाम की मौन-प्रार्थना उनकी दैनिक चर्या का अभिन्न अंग बनी।

नये स्थान की इमारत म्यूरियल तथा उनके साथियों को अनुकूल नहीं मालूम होती थी। अतः उसे गिराकर नई इमारत बनाई गई। उसका प्रत्येक भाग जीवन तथा धर्म के प्रति म्यूरियल के दृष्टिकोण के किसी-न-किसी पहलू का प्रतिनिधित्व करता था।

इस किंग्स्ले-हॉल का सितम्बर १९२८ में उद्घाटन हुआ। यही वह संस्था थी, जिसके आतिथ्य को गांधीजी ने द्वितीय गोलमेज परिषद् के अवसर पर स्वीकार किया। सन् १९३१ में वह तीन महीने इसी किंग्स्ले-हॉल में ठहरे।

इस संस्था के द्वारा म्यूरियल ने सामान्य लोगों की जो सेवा की, वह अद्भुत थी। उसमें कुछ लोग स्थायी रूप से रहते थे और सारा काम अपने

हाथ से करते थे। वहां न कोई नौकर था, न मालिक। सब एक परिवार के सदस्यों की भांति रहते थे। अपनी निस्वार्थ सेवा, सादगी तथा सचाई से इस संस्था ने बहुत-से सम्मानित व्यक्तियोंको अपनी ओर आकृष्ट किया। वहां के नर्सरी स्कूल में पढ़े बहुत-से बच्चे कालान्तर में ऊंचे ओहदों पर पहुंचे। सबसे बड़ी सेवा उसने यह की कि हीन दृष्टि से देखे जानेवाले उस इलाके के स्त्री-पुरुषों के हृदयोंमेंआत्मीयता, साहस और करुणा कीभावना पैदा हुई। जो लोग भयंकर-से-भयंकर बुराई करने के लिए आमादा रहते थे, उनके जीवन को इस असामान्य महिला ने एकदम बदल दिया। उन्होंने दुनिया को दिखा दिया कि प्यार के आगे पत्थर भी मोम हो जाता है।

सन् १९२६ के आरंभ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जामाता प्रो० गांगुली किंग्स्ले-हॉल में भाषण देने आये। बाद में जब म्यूरियल उनसे मिलने गईं तो उन्होंने कहा, "मेरी इच्छा है कि आप भारत आयें और वहां सब चीज़ों को एक बार अपनी आँखों से देखें। अगर आपके पास समय हो तो एक महीना कवीन्द्र रवीन्द्र के पास ठहरें, एक महीना गांधीजी के पास और एक महीना इधर-उधर घूमने में लगायें। मैं आपके लिए सारी व्यवस्था कर दूंगा।"

म्यूरियल को भला और क्या चाहिए था! वह सन् १९२६ के अक्तूबर मास में गांधीजी के साबरमती आश्रम में पहुंचीं और एक महीने उनके साथ रहीं। गांधीजी के व्यक्तित्व, उनके प्रेम तथा उनके आदर्शों ने उनको इतना प्रभावित किया कि वह सदा के लिए उन्हीं की हो रहीं।

३

म्यूरियल के यहां से चलते समय मैंने उनसे निवेदन किया था कि हम लोग किंग्स्ले हॉल देखना चाहेंगे, जहां गोलमेज परिषद् के दिनों में गांधीजी रहे थे।

म्यूरियल ने बड़ी भावना के साथ कहा, "जरूर देखिये, पर वह यहां से दूर है। कोई बात नहीं। मैं स्वयं वहां आकर आपको उसे दिखाऊंगी।"

इतना कहकर उन्होंने वहां मिलने की तिथि और समय निश्चित कर

दिया।

पूर्वी लंदन के मध्य में, मज़दूरों की वस्ती के बीच, किंग्स्ले-हॉल के ऐतिहासिक स्मारक को देखने हम लोग निश्चित समय पर पहुंच गये। वहां जाने के लिए वसें, ट्रामें और सुरंग की रेलें वरावर दौड़ती रहती हैं। पाविस रोड के पूर्वी भाग में एक छोटा-सा मकान है, जिसके वाहर एक गोलाकारघेरे में अंग्रेजी में लिखा था—"लंदन काउण्टी कौंसिल। महात्मा गांधी (१८६९-१९४८) यहां ठहरे थे—१९३१।" हम समझ गये कि यही किंग्स्ले हॉल है।

म्यूरियल और डारिस, दोनों वहां पहले ही पहुंच गई थीं। कुछ और लोग आये थे, जिनमें उस संस्था के मिनिस्टर और वार्डन भी थे। सूचना देने पर म्यूरियल ने हमें ऊपर बुलाया। ऊपर की मंज़िल में कुछ कमरे थे। उन्हीं में से एक में वापू ठहरे थे। वाद में वापू ने 'यंग इंडिया' में लिखा था, "यह एक वड़ी शुभ वात थी कि म्यूरियल लीस्टर, किंग्स्ले हॉल की प्राण, ने अपनी वस्ती में ठहरने के लिए मुझे निमंत्रण दिया और मैं उसे स्वीकार कर सका।...अनुभव ने मुझे बताया कि रहने के लिए किंग्स्ले हॉल का चुनाव आदर्श था। वह लंदन के गरीबों के बीच अवस्थितहै और उन्हीं की सेवा के लिए पूरी तरह समर्पित है।...कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं वहां ठीक उसी प्रकार रह सका, जिस प्रकार भारत में रहता हूं। पूर्वी लंदन की सड़कों पर सवेरे-सवेरे टहलने की स्मृति तो ऐसी है कि कभी भुलाई नहीं जा सकेगी।

"...पूर्वी लंदन के अपने इस निवास-काल में मैंने मानवीय स्वभाव के सर्वोत्तम पहलू को देखा और मेरी इस धारणा की पुष्टि हुई कि यदि हम गहराई से देखें तो बुनियाद में पूर्वी और पश्चिम जैसा कोई भेद नहीं है।"

ऊपर के कमरे को दिखाते हुए म्यूरियल एक कमरे पर रुक गईं। भाव-विभोर होकर बोलीं, "गांधीजी इसी कमरे में ठहरे थे। उन्होंने सबसे छोटा कमरा अपने लिए चुना था। उसमें से फर्नीचर उन्होंने निकलवा

दिया। कितना जाड़ा था उन दिनों, पर गांधीजी जमीन पर बिस्तर लगा कर सोते थे। बाहर इस छत पर (छत की ओर संकेत करते हुए) प्रार्थना होती थी।" म्यूरियल को सब-कुछ ऐसा याद था, जैसे वह कल की ही घटना हो। उन्होंने वह सड़क दिखाई, जिसपर गांधीजी टहलने जाया करते थे।

फिर कुछ याद करते हुए बोलीं, "बड़े तड़के वे टहलने जाते थे। एक रोज कुछ बच्चे आये और उन्होंने डारिस से कहा, 'क्योंजी, हम लोग गांधीजी के साथ सैर को जा सकते हैं?' डारिस ने कहा, 'ज़रूर जा सकते हो, लेकिन इसके लिए तुम्हें जल्दी उठना होगा।' अगले दिन देखते क्या हैं कि पांच बच्चे बड़ी जल्दी आकर नीचे अंधेरे में खड़े होकर गांधीजी की राह देखने लगे। उनकी उम्र १०-१०, ११-११ साल से अधिक नहीं होगी। बच्चे गांधीजी को बहुत प्यार करते थे और गांधीजी स्वयं उन्हें बहुत चाहते थे।"

उन्होंने आगे कहा, "यहां के नर्सरी स्कूल में पढ़े अनेक बालक-बालिकाएं लंदन के विभिन्न भागों में आज अच्छा काम कर रहे हैं। संस्था से अनेक सम्मानित व्यक्ति संबद्ध हैं। लेकिन..." म्यूरियल कुछ रुक कर बोलीं, "अब तो इस बस्ती का रूप ही कुछ और हो गया है। आग लगने से यहां के छोटे-छोटे सब मकान ढह गये। ज़मीन को पैसे वालों ने खरीद लिया और गरीबों को खदेड़ कर बड़े-बड़े मकान खड़े कर लिये। अब तो सारा वायुमण्डल ही बदल गया है। मज़दूरों के छोटे-छोटे मकानों के बीच किंग्स्ले हॉल बहुत बड़ा लगता था। अब वही बड़े-बड़े मकानों के बीच, देखते नहीं, कैसा छोटा लगता है!"

बड़ी व्यथा के साथ उन्होंने आगे कहा, "लेकिन उससे भी बुरी बात यह है कि पैसे वालों की गांधीजी के सिद्धान्तों पर, उनके आदर्शों पर, आस्था नहीं है। मज़दूर दिल से गांधीजी को प्यार करते थे। यहां इकट्ठे होकर उनका काम करते थे। पैसेवालों में यह बात नहीं है। आज भी यहां कई प्रवृत्तियां चल रही हैं; लेकिन हम बड़े ही आर्थिक संकट से गुज़र

रहे हैं। पर उससे क्या, आस्था के साथ थोड़े लोग भी गांधीजी की जलाई ज्योति को प्रज्ज्वलित रखेंगे तो वह कभी बुझेगी नहीं।"

वहां के वार्डन मि० रसल ने बताया कि कुछ दूर पर एक और किंग्स्ले हॉल है। गांधीजी उसे देखने गये। वह उनका मौनवार था। बच्चे खेल रहे थे। गांधीजी देर तक हंसते-खिलखिलाते बच्चों के खेल देखते रहे। बाद में उनसे रजिस्टर में कुछ लिखने को कहा गया तो उन्होंने लिखा—"लव सराउंडेड मी हियर।" (मैं यहां चारों ओर प्रेम से घिरा रहा।)

सुनाते-सुनाते रसल बोले, "गांधीजी का यह अमर वचन और उनकी भावना सदा हमारे सामने रहती है।"

किंग्स्ले हॉल को देखकर जब मैं लौटा तो मुझे ऐसा प्रतीत होता रहा था, मानो तीर्थ-यात्रा करके आया हूं। लंदन की भौतिकता के लिए म्यूरियल लीस्टर का जीवन और किंग्स्ले हॉल की प्रवृत्तियां निस्संदेह एक चुनौती है और साथ ही एक चेतावनी भी कि इस संसार में सबकुछ क्षणभंगुर है। यदि कुछ अजर-अमर है, तो वह प्रेम है और उसी पर चलकर और ढलकर इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना साकार हो सकती है।

४

भारत लौटने पर म्यूरियल के साथ मेरा बराबर सम्पर्क बना रहा। मैंने उनसे एक बार नेहरूजी पर और दूसरी बार गांधीजी पर लेख भेजने का अनुरोध किया। उन्होंने तत्काल लेख भेज दिये। दोनों बार लेख उन्होंने अपने हाथ से लिखकर भेजे। मैंने समझ लिया कि उनके पास टाइप कराने की भी सुविधा नहीं है।

कोई चार वर्ष पहले म्यूरियल की अस्सीवीं वर्षगांठ मनाई गई। किंग्स्ले हॉल के अधिकारी का पत्र आया कि मैं म्यूरियल के प्रति कुछ पंक्तियों में अपनी शुभकामनाएं भेज दूं और यदि हो सके तो किंग्स्ले हॉल के लिए कुछ आर्थिक सहायता भी। उनके अनुरोध को मैंने सहर्ष स्वीकार किया। कुछ दिन बाद म्यूरियल का पत्र आया। उसमें उन्होंने उस संध्या का स्मरण किया था, जो हमने साथ बिताई थी। फिर लिखा—"मेरी

छोटी वहन डारिस की तुम्हें याद होगी, प्यारी डारिस की। उसके साथ बड़ी दुर्घटना हो गई है। उसकी स्मरण-शक्ति जाती रही है। उसका चेहरा आज भी वैसा ही है, उतना ही सुन्दर, उतना ही आकर्षक, पर वह मेरी ओर ऐसे देखती है, जैसे शून्य में देखती हो। वह मुझे पहचान नहीं पाती। ईश्वर की मर्ज़ी के आगे किसी की कुछ नहीं चलती !…"

म्यूरियल आत्मा की शक्ति में अचल विश्वास रखती थीं। किंग्स्ले हॉल का यह अभिलेख "ईश्वर ने हम सबको इसलिए जन्म दिया है कि हम सारे प्राणियों के साथ भाईचारा स्थापित करें" मानवता के प्रति उनके तादात्म्य की ओर संकेत करता है। जब और जहां से भी मानव की पुकार उनके कानों में पड़ी, वह मदद के लिए दौड़ी गईं। सन् १९१९ में वह महिलाओं का जलूस लेकर हाउस ऑफ कामन्स में गई थीं। उनकी मांग थी कि भूखे जर्मन-परिवारों को खाना भेजा जाय। द्वितीय महायुद्ध का विरोध करने के फलस्वरूप उन्हें ट्रिनीडाड में नज़रबंद रखा गया, एक रात उन्हें ग्लासगो की पुलिस की हिरासत में वितानी पड़ी, दो दिन होलोवे की जेल में। वह पॉपलर बरो की सदस्य रहीं, युद्ध के अस्त्रों के व्यापार के विरुद्ध उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आन्दोलन किया। मानव-समाज के कल्याण के लिए और भी न जाने क्या-क्या काम उन्होंने किये।

वह उच्चकोटि की लेखिका थीं। उनकी आत्मकथा, जो बड़ी ही प्रांजल भाषा में लिखी गई है, अत्यन्त प्रेरणादायक है। उनकी दूसरी पुस्तक 'एंटरटेनिंग गांधी' उपन्यास-जैसी रोचक है और गांधीजी तथा उनकी प्रवृत्तियों के प्रति लेखिका की अनन्य श्रद्धा को व्यक्त करती है।

लेखनी की भांति म्यूरियल वाणी की भी धनी थीं। वह नपी-तुली शब्दावली में बोलती थीं और अपनी बात बड़े प्रभावशाली ढंग से कहती थीं।

वस्तुतः उनकी शक्ति का स्रोत था प्रेम से छलछलाता उनका हृदय, दीन-दुखियों की निस्स्वार्थ सेवा-भावना और सर्वहितकारी दृष्टि। वह धनिक घर की थीं, उनमें ऊंचे-से-ऊंचे पद पर आसीन होने की योग्यता

थी; पर उन्होंने स्वेच्छा से गरीबी और सादगी की ज़िन्दगी अपनाई और आजीवन निष्ठापूर्वक उसी रास्ते पर चलती रहीं।

... ...

पिछले दिनों समाचार मिला कि म्यूरियल लीस्टर का लंदन में देहान्त हो गया। मुझे उनका वह वाक्य याद आया जो उन्होंने अपने निवास-स्थान पर भोजन के समय मुझसे कहा था, "लेकिन हम लोगों से उन्होंने (गांधीजी ने) जो इच्छा की थी और उम्मीद रखी थी, उसे मैं पूरी करना चाहती हूं। अभी उनका बहुत-सा काम करने को बाकी पड़ा है न!"

वह सचमुच जीने के लिए उत्सुक थीं। इसलिए नहीं कि उन्हें जीने से किसी प्रकार का मोह था, बल्कि इसलिए कि शांति और प्रेम को जन-जन तक पहुंचाने का गांधीजी का ध्येय अभी पूरा नहीं हुआ था। म्यूरियल की सारी प्रवृत्तियों के मूल में गांधीजी की विचार-धारा की प्रेरणा थी।○

४

प्रिंस धानी निवात के साथ

थाईलैण्ड के राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में प्रिंस धानी निवात की बड़ी प्रतिष्ठा है। वैसे साहित्य और राजनीति का बहुत मेल नहीं होता, पर हर देश में कुछ ऐसे लोग मिल जाते हैं, जो दोनों में समान गति रखते हैं और उसके लिए सम्मान प्राप्त करते हैं। अनेक उच्च उपाधियों से विभूषित प्रिंस धानी निवात राजा राम षष्टम के राज्य-काल में राजरानी के निजी सचिव थे। अनन्तर राजा प्रजाधिपोक के समय में मंत्री रहे, फिर सुप्रीम कौंसिल ऑव स्टेट के मैम्बर बनने के बाद उन्होंने सन् १९४७ से १९५१ तक थाईलैण्ड के रीजेंट का पद संभाला। जिस समय मैं उनसे मिला, वह प्रिवी कौंसिल, स्याम सोसायटी तथा नेशनल कौंसिल ऑव म्यूजियम के अध्यक्ष थे। साहित्यिक जगत में उनकी धाक थी। उनकी 'जनरल एनशियेंट हिस्ट्री', 'थाओ वोरा चांद', 'ओल्ड स्यामीज कंसैप्शन ऑव मोनारकी', 'नान' (छाया नाटक) आदि पुस्तकें साहित्य की दृष्टि से आज भी बड़ी मूल्यवान् मानी जाती हैं। वह 'रायल सोसायटी ऑव आर्ट ऐंड लिटरेचर' के कमिश्नर जनरल रहे। इस प्रकार प्रिंस धानी की प्रतिभा बहुमुखी और सेवा-क्षेत्र व्यापक रहा है।

'थाई-भारत-कल्चरल लॉज' के संचालक स्व० रघुनाथ शर्मा के उनके साथ निकट के संबंध थे। उस समय शर्माजी जीवित थे और हम उन्हीं के मेहमान थे। बैंकाक पहुंचने पर शर्माजी ने प्रिंस धानी निवात से भेंट की सुविधा करा ली। एक दिन संध्या को शर्माजी, मेरे साथी हिन्दी के

विख्यात लेखक विष्णु प्रभाकर और मैं उनसे मिलने गये। पांच बजे का समय निश्चित हुआ था, लेकिन हम समय से पन्द्रह मिनट पहले ही पहुंच गये। घनी बस्ती में अन्दर जाकर एक छोटे-से मकान में वह रहते थे। कार से उतरते ही जिस व्यक्ति से हमारा साक्षात्कार हुआ, वह थी प्रिंस धानी की बहन। वह शर्माजी से परिचित थीं। उन्होंने स्नेह से हमें भीतर ले जाकर ड्राइंग रूम में बिठाया और स्वयं पास बैठकर बातें करने लगीं। बोलीं, "मैं सन् १९५१ में भाई के साथ भारत गई थी। वह भगवान बुद्ध की २५००वीं जयन्ती का अवसर था। हम लोग दिल्ली में कुछ दिन रहे, फिर कई बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। जयपुर, आगरा, अजन्ता-एलौरा आदि स्थानों में भी गये। अजन्ता-एलौरा से मैं विशेष प्रभावित हुई। लेकिन ताज के संबंध में इतना सुन चुकी थी कि उसे देखकर कोई नई या खास बात नहीं लगी। पर इससे आप यह न समझें कि ताज को देखकर मुझे निराशा हुई।"

वह थोड़ा रुकीं, फिर जरा भारी स्वर में बोलीं, "जिस बीवी को शाहजहां इतना प्यार करता था, उसी के बच्चों ने बाप के साथ कैसा दुर्व्यवहार किया, इसका ध्यान आते ही मुझे बड़ा बुरा लगा।"

विष्णुभाई ने कहा, "मुसलमानों में उत्तराधिकार की प्रथा हिन्दुओं जैसी नहीं है। उनमें तो जिसके हाथ में लाठी होती है, वही राज्य पर अधिकार कर लेता है। यही बात शाहजहां के साथ हुई।"

चर्चा गंभीर हो चली। उसे संक्षिप्त करने के लिए मैंने कहा, "ताज को देखने का असली आनन्द तब लिया जा सकता है, जब उसे इतिहास की दृष्टि से उतना नहीं, जितना कला की दृष्टि से देखा जाय।"

वह बोलीं, "आपकी बात ठीक है। मैं यह नहीं कहती कि ताज अच्छा नहीं है। उस जैसी इमारतें आजकल कितनी हैं!"

उसी समय काठ के जीने से मझोले कद और कुछ भारी शरीर के एक सज्जन उतरते हुए दिखाई दिये। वह बंद गले का कोट और रंगीन धोती पहने थ। पैर नंगे थे। चेहरा भरा, आंखें उभरी, आकृति गंभीर। यही थे

प्रिंस धानी निवात। नीचे आते ही हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, उन्होंने हमारा अभिवादन किया और सोफे पर बैठते हुए बोले, "मुझे बड़ा खेद है कि मैंने आपसे प्रतीक्षा कराई।"

हम कुछ कहें कि उससे पहले ही उनकी बहन बोल उठीं, "और ये लोग इस बात के लिए क्षमा मांग रहे थे कि समय से पहले आ गये।"

उन्होंने यह बात इस ढंग से कही कि हम सब हंस पड़े। मैंने कहा, "समय से पहले आने में हमारा थोड़ा स्वार्थ था। हमें मालूम हो गया था कि ५॥ बजे आपका दूसरा कार्यक्रम है। सोचा, पहले पहुंच जाने से संभावना हो सकती है कि कुछ समय और मिल जाय।"

वह मुस्करा उठे।

चर्चा आरम्भ करते हुए मैंने कहा, "हम लोग रंगून आये थे, वहां के अखिल बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने के लिए। वहां से यहां चले आए।"

"उस सम्मेलन का उद्देश्य क्या है?" उन्होंने पूछा।

"उसका उद्देश्य ब्रह्मदेश में हिन्दी का व्यापक प्रचार और प्रसार करना है और यह काम वह संस्था वर्षों से कर रही है।"

वह बोले, "बर्मा में भारतीय संस्कृति का प्रभाव अधिक है।"

विष्णुभाई ने कहा, "हमें तो यहां स्याम में अधिक लगता है। यहां की भाषा में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य, अभिवादन की पद्धति, आदि-आदि इसके प्रमाण हैं।"

नया विषय छेड़ते हुए मैंने कहा, "भारत और थाईलैण्ड पड़ोसी देश हैं और दोनों के संबंध बहुत पुराने हैं,पर दोनों के बीच साहित्यिक आदान-प्रदान नहीं के बराबर है। बर्मा में भी हमने यही बात देखी। हम चाहते हैं कि थाई भाषा की चुनी हुई पुस्तकों का अनुवाद भारतीय भाषाओं में हो और भारतीय भाषाओं की अच्छी-अच्छी रचनाओं का थाई भाषा में।"

"मैं आपसे सहमत हूं" वह बोले, "लेकिन इस काम को करे कौन?"

मैंने कहा, "यहां पर 'थाई-भारत कल्चरल लॉज' है, जिसके सम्पर्क

बहुत व्यापक हैं।"

"आपकी बात सही है।" इतना कहकर उन्होंने शर्माजी की ओर संकेत किया और बोले, "पंडितजी इस संस्था में अच्छा काम कर रहे हैं। लेकिन बात यह है कि आप जिस काम को कहते हैं, उसे वही व्यक्ति कर सकता है, जो थाई, अंग्रेजी और हिन्दी, तीन भाषाएं अच्छी तरह से जानता हो। एक नौजवान इस काम के लिए मिला था। बड़ा ही मौजूं था। पंडितजी उसे जानते हैं, पर दुर्भाग्य से वह राजनीति के चक्कर में पड़ गया।"

विष्णुभाई के इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या थाई भाषा की पुस्तकों के अनुवाद अंग्रेजी में हुए हैं, उन्होंने कहा, "नहीं।"

इसके बाद रामायण का प्रसंग आ गया। विष्णुभाई बोले, 'आपने 'स्टोरी ऑव राम इन स्याम' पुस्तक लिखी है।"

"नहीं," उन्होंने उत्तर दिया, "मैंने पुस्तक तो नहीं लिखी। बर्मा की एक संस्था के अनुरोध पर एक बड़ा निबंध लिखकर भेजा था। पता नहीं, उन्होंने उसका क्या किया! सुना है, वे उसे अपने जर्नल में छाप रहे हैं, पर मुझे इसकी कोई सूचना उनकी ओर से नहीं मिली। यदि वे नहीं छापेंगे तो उनकी अनुमति लेकर मैं उसे छपवा दूंगा।"

रामायण की चर्चा आगे बढ़ाते हुए विष्णुभाई ने कहा, "रामायण का इस देश में बड़ा प्रचार है। मन्दिरों में उसके बहुत-से चित्र मिलते हैं।"

"सो तो है," वह बोले, "पर आपके देश की भांति यहां भी रामायण के कई संस्करण प्रचलित हैं। स्वामी सत्यानन्द पुरी ने रामायण का अंग्रेजी में अनुवाद किया है, पर मुझे खेद है कि उन्हें अनुवाद के लिए रामायण का सर्वोत्तम संस्करण नहीं मिल सका।"

"आपकी निगाह में सबसे अच्छा और प्रामाणिक संस्करण कौन-सा है ?" मैंने पूछा।

इस सवाल पर कुछ सोचते हुए-से वह बोले, "सन् १७९९ में जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, वही सर्वोत्तम है। वह राजा राम प्रथम के

समय में निकला था और उसका आधार वाल्मीकि रामायण है। उसे सम्पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता, पर प्रामाणिक वही है।"

विष्णुभाई ने कहा, "क्या ही अच्छा हो, यदि कोई सज्जन एशियाई देशों में प्रचलित रामायण के संस्करणों का अध्ययन करें।"

उनके इस कथन का समर्थन करते हुए मैंने कहा, "भारत में श्री राजगोपालाचार्य ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया है। उन्होंने वाल्मीकि-रामायण के आधार पर रामायण की कथा प्रस्तुत की है और तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से तुलसी और कम्बन के स्थान-स्थान पर संदर्भ दिये हैं।"

"मैंने उनकी वह पुस्तक नहीं देखी।" वह बोले। पर राजाजी का नाम आते ही उनका ध्यान उस ओर चला गया। उन्होंने पूछा, "राज-गोपालाचार्य आजकल कहां हैं और क्या कर रहे हैं? माउंटबेटन के बाद वही तो भारत के गवर्नर-जनरल बने थे?"

उनकी बात का उत्तर देते हुए विष्णुभाई ने कहा, "जी हां, अब उन्होंने एक नई पार्टी बना ली है और वह एक प्रकार से नेहरू के विरोध में हैं।"

विष्णुभाई की बात को स्पष्ट करते हुए मैंने कहा, "नेहरू के प्रति उनके मन में बड़ा स्नेह है, पर वह राजनीति में उनसे मतभेद रखते हैं।"

मेरी बात सुनकर उनका चेहरा बहुत ही गंभीर हो उठा। बोले, "दिस इज पॉलिटिक्स।" (यह राजनीति है!)

विष्णुभाई के पूछने पर उन्होंने बताया कि थाई भाषा में उत्तम नाटक हैं। मैंने कहा, "थाई जीवन पर आधारित ऐसे नाटक और उपन्यास तैयार होने चाहिए, जिनमें अन्य देशों के पाठकों की रुचि हो और जिन्हें पढ़कर वे यहां के लोकजीवन की आत्मा को देख सकें।"

उन्होंने शर्माजी की ओर देखकर और उन्हें संबोधित करके कहा, "इनका यह विचार तो बहुत अच्छा है।"

"क्या आपने स्यामी नाटक के विकास पर कोई पुस्तक लिखी है?"

इस सवाल के उत्तर में उन्होंने कहा, "जी हां, मैंने एक छोटी पुस्तिका लिखी है, पर एक बड़ी पुस्तक भी निकली है—'क्लासीकल स्यामीज़ थियेटर'।"

मेरे मन में साहित्यिक आदान-प्रदान की बात फिर उठी। मैंने पूछा, "क्या आपके यहां ऐसी कोई संस्था है, जो अन्य भाषाओं से अनुवाद आदि का कार्य विधिवत रूप से करती हो?"

"जी नहीं, ऐसी कोई संस्था नहीं है। पेन क्लब है, पर उसका उद्देश्य कुछ और ही है। क्या भारत में ऐसी कोई संस्था है?"

"जी हां", मैंने उत्तर दिया, "साहित्य अकादमी इस कार्य को करती है।"

घड़ी पर अचानक निगाह गई तो ५॥ बजनेवाले थे। हमने चर्चा समाप्त की। वह बोले, "अपने पते मुझे दे जाइये। मैं आपको कुछ पुस्तकें भेजूंगा और दिल्ली आना हुआ तो सूचना दूंगा।"

हमने पते दिये, फिर अन्दर के बरामदे में जाकर चित्र खींचे। अपने पते में मैंने 'सस्ता साहित्य मण्डल' का उल्लेख किया था। वह नाम उनके दिमाग़ में रहा। चित्र खिचवाकर लौटते समय उन्होंने पूछा, "मण्डल और 'साहित्य अकादमी' के काम में क्या अन्तर है?"

मैंने उन्हें बताया कि 'मण्डल' ने गांधीजी की, उनकी विचार-धारा की, राजेन्द्रबाबू, विनोबा, नेहरू आदि की पुस्तकें निकाली हैं। यह संस्था गांधी-विचार-धारा से प्रेरित है। लेकिन 'साहित्य अकादमी' के सामने वैसी कोई मर्यादा नहीं है। उसने भारतीय भाषाओं और कुछ विदेशी भाषाओं की पुस्तकें भी निकाली और निकलवाई हैं।"

उनके बड़े ड्राइंग रूम में नालंदा का एक मॉडल रखा था। उसे दिखाते हुए उन्होंने कहा, "जब मैं भारत गया था, मैंने नालंदा की भी यात्रा की थी। कुछ दिन पहले मैं तक्षशिला भी हो आया हूं।"

"अब तो वैशाली का भी विकास हो रहा है।" मैंने कहा।

"हां," वह बोले, "मैंने सुना है, वहां अच्छा काम हो रहा है।"

वह हमें बाहर तक पहुंचाने आए। मेरी धोती की ओर संकेत करके बोले, "यह देखिये, मैं भी धोती पहनता हूं। किसी समय में वह हमारे देश की पोशाक थी। पर अब इसे कम ही लोग पहनते हैं।"

जिस प्रकार आते समय अभिवादन में उन्होंने हाथ जोड़े थे और सिर झुकाया था, ठीक उसी तरह हाथ जोड़कर, नमस्कार करके, उन्होंने विदा किया।

इतने बड़े राजनीतिज्ञ और साहित्यकार होते हुए भी मुझे उनमें किसी प्रकार का दंभ दिखाई नहीं दिया, बल्कि उनके चेहरे पर सरलता और व्यवहार में विनम्रता दिखाई दी। मन बड़ा पुलकित हुआ।

जब मैं फीजी से लौटतेहुए सन् १९६५ में फिर बैंकाक पहुंचा तो फोन पर उनसे बात हुई। मेरे पास समय की कमी थी, लेकिन जो समय खाली था, उसमें उनका औरकोई कार्यक्रम था। भेंट नहीं हो सकी, पर मैंने देखा कि उनके स्वर में वही माधुर्य और वही आत्मीयता थी। उन्होंने कहा, "यहां आये हैं तो एक-दो दिन और रुक जाइये। हम लोग मिलेंगे और बहुत-सी बातें होंगी।"

किन्तु यह संभव न हो सका।○

५ | इलिया के तपोवन में

सन् १९५७ में जब मैं पहली बार रूस गया था तो वहां काफी दिन ठहरा था। मास्को में कई रूसी लेखकों, विद्वानों तथा सम्पादकों से भेंट हुई। उनमें से कुछ के साथ बड़ी रोचक चर्चाएं हुईं। यहां मुझे विशेष रूप से जिनका उल्लेख करना है, वह थे इलिया ग्रिगोरीविच एहरनबुर्ग। इलिया अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार थे। उनकी दर्जनों पुस्तकें निकल चुकी हैं और उनके अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, जापानी, भारतीय तथा अन्य भाषाओं में हुए हैं। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनों को पराजित कराने में इस लेखक का महत्वपूर्ण योग रहा। उन्होंने रूसियों में अदम्य उत्साह और चेतना उत्पन्न की और 'रेड स्टार' पत्र में लेख लिख-लिखकर लाल सेना को निरन्तर उत्साहित किया। लेकिन युद्धोत्तर काल में इसी लेखक के एक विवादास्पद उपन्यास 'थौ' ने तूफान खड़ा कर दिया और यह मानकर कि उसके कुछ अंश सोवियत संघ के मूल उद्देश्यों के विरुद्ध हैं, उनकी सोवियत अधिकारियों ने अच्छी खबर ली। फिर भी इलिया विचलित न हुए। बाद में रूस के प्रथम श्रेणी के लेखकों में उन्हें अग्रणी स्थान प्राप्त हुआ।

इलिया का नाम मैंने पहले से ही सुन रक्खा था। उनसे मिलने की इच्छा भी बहुत थी। अचानक एक दिन भारतीय दूतावास से हमारे कौंसल श्री पी. रत्नम की पत्नी श्रीमती कमलाजी का फोन आया, "आज दोपहर को इलिया से मिलने का समय निश्चित हुआ है।"

इस संबंध में बात कई दिन से चल रही थी। इस समाचार से मुझे बड़ा हर्ष हुआ। रत्नम-दम्पती, उनकी सुपुत्री माधवी, एक रूसी कलाकार मरीना बुगीवा तथा मैं कार द्वारा मास्को से रवाना हुए।

इलिया का फ्लेट वैसे शहर में भी था, लेकिन वह प्राय: रहते थे इस्त्रा में, जो कोलाहल से दूर, मास्को से पश्चिम में, लगभग ६० किलोमीटर के फासले पर था। इस्त्रा राजनैतिक दृष्टि से बड़े महत्व का स्थान है। जर्मन तथा रूसी सेनाओं में यहां पर घमासान युद्ध हुआ था, जिसकी साक्षी सड़क के दाईं ओर खड़ा ध्वस्त गिरजाघर तथा अन्य इमारतें देती थीं।

इस्त्रा का मार्ग बड़ा मनोरम था। साफ-सुथरी सड़क के दोनों ओर दूर-दूर तक हरियाली-ही-हरियाली दिखाई देती थी और ज्यों-ज्यों इस्त्रा निकट आता गया, ऊंचे-ऊंचे सघन वृक्षों ने वहां के वायुमण्डल को बहुत ही लुभावना बना दिया।

जिस समय हम लोग मास्को से रवाना हुए थे, पानी पड़ रहा था, लेकिन आगे बढ़ते ही पानी बंद हो गया, मौसम साफ हो गया। शहर से बाहर निकलने पर सड़क के दोनों ओर लकड़ी के कुछ मकान बने हुए और कुछ बनते दिखाई दिये। पूछने पर पता चला कि उन मकानों को मजदूर लोग स्वयं अपने लिए बना रहे हैं और यह उनकी निजी सम्पत्ति होगी। मुझे बताया गया कि हाल ही में निजी उद्योग को प्रोत्साहन देने की योजना स्वीकृत हुई है और मकान बनाने आदि के लिए सरकार से ऋण भी दिया जा रहा है।

इस्त्रा के कुछ इधर ही सुविख्यात लेखक चेखव का घर था, जो टूटा-फूटा पड़ा था। उसके पास ही चेखव का स्मारक था, जो इस बात का स्मरण दिलाता था कि मेडीकल इन्स्टीट्यूट से स्नातक होने के बाद चेखव ने यहीं पर अपनी प्रैक्टिस शुरू की थी।

इस्त्रा से कुछ आगे मोरोजोव नामक एक सम्पन्न व्यक्ति की जागीर थी। चेखव तथा गोर्की मोरोजोव के अनन्य मित्र थे और उनके यहां प्राय: आया-जाया करते थे। रूसी क्रांति के कुछ समय पूर्व दूरदर्शी मोरोजोव ने

अपनी यह जागीर वोल्शेविक पार्टी को दे दी थी।

जिस समय हम लोगों की कार इलिया के घर पर पहुंची, शाम के पौने पांच वजे थे। इलिया तथा उनकी पत्नी को पहले से ही सूचना थी। वे प्रतीक्षा कर रहे थे। कार के रुकते ही सवसे पहले दो कुत्ते दौड़कर वाहर आये। उनमें एक वड़ा था, दूसरा मझौले कद का। भौंकते हुए वे हम लोगों के पैरों से लिपटने लगे। उन्हें देखकर माधवी भयभीत हो उठी और चिल्लाने लगी,तवतक इलिया आ गये। सामान्य-सी पोशाक, दुवली-पतली देह, उभरी हुई निश्छल आंखें, होठों पर मुस्कान, सिर पर लम्वे श्वेत केश। यह थी इलिया की वाह्याकृति। उनके चेहरे को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वंगला के विख्यात लेखक शरत सामने हों। अद्भुत साम्य था दोनों के चेहरों में। उन्होंने वड़ी आत्मीयता से हाथ मिलाया, परिचय हुआ। ऐसे मिले मानो वर्षों की जान-पहचान हो। उनके आने के जरा-सी देर वाद उनकी पत्नी भी आ गई।

अभिवादन के उपरान्त वे हमें घर के वाहर वाले छोटे-से चवूतरे पर ले गये,जहां से चारों ओर के दृश्य देखे जा सकते थे। सामने एक छोटी-सी नदी थी, जिसके किनारे पर कुछ खेत थे। इलिया सवसे पहले हमें वहीं ले गये। सचमुच उन्होंने जंगल में मंगल कर रक्खा था। वाद में उनके साग-भाजी के खेत में गये। ऐसा लगा,जैसे भारत के किसी गांव में हों। पालक, सोया, गाजर, करेला, वंदगोभी, वैंगन,चुकन्दर, मिर्च आदि की हरी-भरी क्यारियां भारत के लिए इलिया की ममता का आभास करा रही थीं। इलिया ने वताया कि सन १९५६ में जव वह भारत आये थे, तव यहां से अनेक प्रकार की साग-भाजियों के वीज अपने साथ ले गये थे। उन्हीं को सावधानी से वोकर तथा उनकी देखभाल करके यह फसल तैयार की थी।

वहां से वह हमें पुनः घर के निकट ले गये और अपने अहाते के पेड़-पौधों को दिखाते हुए उनका परिचय कराया। वोले, "यह जैतून का पेड़ है। यह यूक्लिप्टस का है। यह पौधा अर्जेण्टाइना का है।" इस प्रकार एक के वाद एक, उन्होंने कई पौधों की ओर हमारा ध्यान दिलाया और वड़ी

आत्मीयता से उनका परिचय दिया। फिर घर के नीचे के कक्ष (हाट हाउस) में ले गये। उस कक्ष की छत और दीवारें शीशे की थीं और गरम पानी के पाइप लगाकर ऐसी व्यवस्था की गई थी कि वहां के कड़े शीत तथा बर्फ से विकासशील पौधों की रक्षा हो सके। बड़ी विचित्र दुनिया थी पेड़-पौधों की वह ! जाने किस-किस देश के पौधे छोटे-बड़े गमलों में लगे थे। छः फुटे एक पौधे की ओर संकेत करते हुए इलिया बोले, "जानते हैं, यह किसका पौधा है ? जी, यह आम है। इसकी बड़ी मजेदार कहानी है। पिछली बार जब नेहरू मास्को आये थे तो उनके सम्मान में भारतीय दूतावास ने एक भोज दिया था। उसमें किसी ने आम खाकर गुठली फेंक दी। मैं उसे उठाकर कागज में लपेटकर जेब में रख लाया। यहां आकर उसे मैंने जमीन में गाड़ दिया। उसी का नतीजा है यह।" पता नहीं, उस पर कभी फल आयेगा या नहीं, पर इलिया के लिए यह क्या कम संतोष की बात थी कि उनके संग्रह में भारत के अत्यन्त लोकप्रिय फल का पौधा विद्यमान था। पपीते का एक पौधा भी वहां था। कक्ष के एक गमले में एक मोटे तने के फुट भर के पौधे की ओर इशारा करके उन्होंने कहा, "यह जापानी है। देखने में छोटा-सा लगता है, पर है यह पूरी उमर का पेड़। इसे कृत्रिम उपायों से मैंने बौने रूप में रक्खा है।" बाहर क्यारियों में मटर तथा गुलाब के रंग-बिरंगे पुष्प खिले थे और महक रहे थे। इलिया ने बताया कि शीत, पाले और चूहों से बचाव के लिए इनके ऊपर घास की बिछावन डालनी पड़ती है। तब इनकी रक्षा होती है।

मकान में प्रवेश करते ही पहला कक्ष चुने हुए पौधों तथा लता-वल्लरियों को समर्पित दीख पड़ा। तीन ओर से वह खुला था, पर बेलों ने फैलकर उसे बंद कमरे का रूप दे दिया था। अंदर तीन कमरे और थे, बड़े ही सादे, पर कलापूर्ण। एक कमरे में भारत से भेंट में मिले चार रंगीन चित्र लगे थे। सामने दीवार पर फ्रेम में मखमल पर कढ़ा शांति का प्रतीक कपोत था, जो उन्हें आगरे के 'भारत-सोवियत सांस्कृतिक संघ' की ओर से भेंट में मिला था। बराबर के कमरे में अन्य वस्तुओं के बीच कुछ किताबें

थीं, जिनमें नेहरूजी की 'मेरी कहानी' के रूसी भाषान्तर पर बड़े आकार के कारण खास तौर पर निगाह जाती थी। वहीं एक ओर को दीवालगिरी पर भारत से लाये कुछ लकड़ी के खिलौने करीने से रक्खे थे। शीशे के एक केस में भारत से भेंट में मिली विभिन्न प्रकार की सिगरेटें थीं।

इलिया एक-एक शब्द तौल-तौलकर बोलते थे और बड़े ही धीमे। उनकी सौम्यता हृदय को पुलकित करने वाली थी और उनकी पारदर्शी निश्छलता बार-बार हमारी आंखोंको अपनीओर खींच लेती थी। उनकी पत्नी उच्चकोटि की चित्रकार थीं। पर कितना अन्तर था दोनों में ! इलिया सहज और गंभीर, पत्नी बड़ी ही सजीव और स्फूर्तिवान। एक कमरे में सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी कलाकार पिकासो के चित्रों के साथ श्रीमती इलिया के भी कुछ चित्र लगे थे।

हम लोग उनके घर को देख रहे थे तबतक लता-वल्लरियों वाले कक्ष में मेज पर चाय की व्यवस्था हो गई। सूचना मिलने पर हम आकर कुर्सियों पर बैठ गये। ऐसा जान पड़ा कि हम किसी तपोवन में हैं। इलिया तथा उनकी पत्नी के अलावा उनके परिवार की एक छोटी-सी बालिका भी थी। खाने के लिए बहुत-सी चीजें थीं। फलों में सेब, अंगूर, केले, अनन्नास तथा मौसम्मी। खाते-खाते चर्चा चल पड़ी। हममें से एक ने पूछा, "अपनी विदेश-यात्रा में आपको कौन-कौन-से देश खास तौर पर अच्छे लगे ?"

इलिया ने उत्तर दिया, "भारत, चीन और जापान। एक-दूसरे से हर बात में अलग होते हुए भी यही तीन देश मिलकर एशिया का निर्माण करते हैं।"

"जापान के बारे में आपका क्या विचार है ?"

"जापान ने बड़ी उन्नति की है। भौतिक क्षेत्र में वह बहुत आगे बढ़ गया है, लेकिन उसकी आत्मा और संस्कृति अपनी निराली है। जब मैं वहां गया तो लोगों ने और वहां के पत्रों ने मेरा बड़ा अभिनंदन किया और जितने दिन रहा, किसी ने मेरी उपेक्षा नहीं की।"

इसके बाद चाय तथा भोजन की चर्चा चल पड़ी। इलिया ने कहा,

"मुझे तेज भारतीय चाय पसंद है। अजंता-एलोरा जाते समय औरंगाबाद में चाय के चूरे से तैयार हुई काढ़े जैसी जो चाय मिली थी, वह मुझे अब-तक याद है। दुर्भाग्य से हमें यहां सर्वोत्तम भारतीय चाय नहीं मिल पाती, क्योंकि हमारे खरीददार प्रायः वही चाय पसंद करते हैं, जो कि रूसी चाय से स्वाद तथा सुगंधि में मिलती-जुलती है।"

इतना कहते-कहते हल्की-सी मुस्कराहट उनके होठों पर खेल गई। अपनी बात को जारी रखते हुए उन्होंने कहा, "मेरी बहुत-सी आदतें भारतीय हैं। मांस मुझे पसंद नहीं। हरी सब्जियां और चावल अच्छे लगते हैं। मिर्च भी मजेदार लगती है।" फिर कुछ रुककर बोले, "भारत के कुछ होटलों में और रेस्तराओं में यूरोपियन खाना दिया जाता है। यह उचित नहीं है, क्योंकि वह अंग्रेजी खाना होता है। भारतीय भोजन ठीक है। भारत में मुझको सबसे अच्छा खाना रामेश्वरी नेहरू के घर में मिला। मुझे जाफरान और इलायची बहुत प्रिय हैं। आम का अचार भी बहुत अच्छा लगता है।"

"भारत का कौन-सा शहर आपको पसंद आया ?" विषय बदलते हुए हमने प्रश्न किया।

उन्होंने कहा, "सबसे मजेदार पर भयंकर कलकत्ता लगा। मद्रास उससे अच्छा है। समुद्र की निकटता के कारण वहां की जलवायु अनुकूल है। दिल्ली में कोई विशेष बात नहीं मालूम हुई। नई दिल्ली जैसा शहर संसार में कहीं भी मिल सकता है। पुरानी दिल्ली भारत के किसी भी अन्य नगर की भांति है। लेकिन कला की दृष्टि से मुझे मथुरा सबसे उत्कृष्ट प्रतीत हुआ। वहां के संग्रहालय में गांधार-शैली और गुप्त-काल की कला दिखाई दी। आगरे में ताजमहल भी देखा। वह मुसलमानी कला का नमूना है और उसका मुझ पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना मथुरा का। एलोरा-अजन्ता भी बहुत अच्छे लगे। नासिक की भी बढ़िया छाप पड़ी। लेकिन सबसे प्रिय लगा महाबलीपुरम का प्राचीन मंदिर।"

सन १९५६ में भारत का भ्रमण करने के बाद इलिया ने अपने

संस्मरणों में लिखा था :

"मैंने चीन, जापान, यूरोप, उत्तरी और दक्षिणी अमरीका का भ्रमण किया है। संसार के इतने देशों के भ्रमण के बाद भी भारत का भ्रमण करने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं एक नई दुनिया में आ गया। वहां पर मैंने कई आश्चर्यजनक वस्तुएं देखीं।

"दिल्ली में मुझे उस अद्भुत लौह स्तम्भ को देखने का अवसर मिला, जो चौथी-पांचवीं शताब्दी में निर्मित किया गया था। सैकड़ों वर्षों की वर्षा और धूप सहने के बाद भी उस स्तम्भ पर तनिक भी जंग नहीं लगा है। मैं यह देखकर चकित रह गया कि प्राचीन भारत धातु-विज्ञान में इतना अधिक विकसित था। वहां पर मुझे अपने अज्ञान का बोध हुआ।

"पाश्चात्य देशों में भारतीय कला का ज्ञान दक्षिण भारत के उन मंदिरों से हुआ, जो १७ वीं शताब्दी में बनाये गये। उनकी जटिल आकृति, हाथियों, घोड़ों, देवताओं एवं नृत्य की हजारों आकृतियां एक ही मंदिर में देखने को मिलती हैं। उस काल के किसी यूरोपीय संग्रहालय में भी चार भुजाओं वाले नृत्य करते हुए शिव और मंदिर की नर्तकियों की नृत्य-मुद्रा देखी जा सकती है।

"अजन्ता, एलोरा तथा एलीफैन्टा की मूर्तियां आज भी दर्शकों को मंत्र-मुग्ध कर देती हैं। पाश्चात्य कलाकारों ने इनमें विद्यमान कला का भली-भांति अध्ययन नहीं किया।

"कलकत्ता के बोटेनिकल गार्डन में मैंने तरह-तरह के वृक्ष और पौधे देखे। यह स्थान साक्षात स्वर्ग के समान है। वहां पर एक प्राचीन बरगद का वृक्ष है। इसके मूल वृक्ष की जड़ें नष्ट हो चुकी हैं, परन्तु तनों से नीचे आई हुई जटाओं से ९००वृक्ष खड़े हो गये हैं। अब इसने एक वन का रूप धारण कर लिया है। यह मानव-जाति का प्रतीक है, जो एक-दूसरे से इसी प्रकार जुड़े हुए हैं।

"भारत में आधुनिकता और प्राचीनता का विचित्र सामंजस्य है। कलकत्ता की गायें ब्यूक कारों के साथ बिना कठिनाई के चल सकती हैं।

नासिक के प्राचीन मन्दिर उस नगर के जीवन के अंग हैं।"

चाय का घूंट भरते हुए इलिया ने कहा, "भारत की अर्वाचीन चित्रकारी में मुझे अमृत शेरगिल के चित्र बड़े प्रिय मालूम हुए। कलकत्ते में जैमिनी राय का संग्रह भी पसंद आया। उसमें लोककला और आध्यात्मिकता की झलक है। कलकत्ता में महालानोबिसके घर में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक चित्र लगा था, जिसे देखकर मुझे लिनार्डो ड विंसी का स्मरण हो आया। मेरी शांतिनिकेतन जाने की बड़ी इच्छा थी, लेकिन समयाभाव के कारण वहां न जा सका।

"दिल्ली में मुझे आधुनिक कला की एक प्रदर्शनी देखने का अवसर मिला। अनेक कलाकारों की कला-कृतियों में आधुनिकता तथा प्राचीनता का अद्भुत साम्य देखकर मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ। यूरोप में जिसे विरोधाभास माना जाता है, वह भारत में स्वाभाविक है। यह देश भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों में रहता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर उपनिषदों में भी विश्वास करते थे और उन्होंने विश्व के प्रथम समाजवादी देश का अभिनन्दन भी किया।

"अनेक पाश्चात्य कला-आलोचकों का कथन है कि भारतीय कला में भद्दापन है, और वह अधिक प्रकृतिवादी है। कुछ लोग इसे निरपेक्ष एवं असांसारिक कहते हैं। प्रोफेसर हावेल का कथन है कि यूनान की कला में मानव का परन्तु भारत की कला में विश्व का दैवी रूप मिलता है। अगर उन्होंने अजन्ता और एलोरा की कला देखी होती तो सम्भवतया उन्हें अपनी धारणा बदलनी पड़ती। अजन्ता की दीवारों पर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सजीव मानव-मूर्तियां झांक रही हैं।"

"भारत में आपको सबसे विशेष क्या लगा?" हमने पूछा। इस प्रश्न पर इलिया की आंखें चमक उठीं। बोले, "वहां के लोग।"

"लेकिन वे तो हजारों वर्षों से हैं। उनमें विशेषता क्या है?"

"हजारों सालों से हैं तो उससे क्या, मैंने तो पहली बार देखा। मान लोकि आप रूस आओ, अस्सी साल के टाल्स्टाय को देखने, और मैं कहूं

कि उस बूढ़े आदमी में देखने को क्या रखा है, तो आप यही कहेंगे न कि हम तो उन्हें पहली बार देख रहे हैं। सबसे अधिक प्रभाव मुझपर भारतीय संस्कृति का पड़ा। भारत के लोगों ने आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ी प्रगति की है। लेकिन मेरे सामने सबसे बड़ी कठिनाई भाषा की थी। मैं अंग्रेजी नहीं जानता (हम लोगों की बातचीत श्रीमती कमलाजी के माध्यम से हुई, जो कई भाषाएं जानती हैं।), न भारतीय भाषाएं। फ्रेंच जानता हूं। सो लोगों से सीधी बात करने के लिए पांडिचेरी गया, पर वहां एक बड़ी विचित्र चीज देखी। वहां के एक फ्रेंच मेयर की मूर्ति संग्रहालय की प्राचीन वस्तुओं के बीच रख दी गई है और भारत के देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के बीच विक्टर ह्यूगो तथा अन्य फ्रांसीसियों की मूर्तियां विराजमान हैं। ऐसी मूर्तियों को वहां से हटा देना चाहिए। इसी प्रकार कलकत्ता में मैंने उन सैनिकों का स्मारक देखा, जिन्होंने भारतीयों की हत्या की थी। यह गलत चीज है। कटु स्मृतियों की याद दिलानेवाली वस्तुएं इस तरह नहीं रहनी चाहिए। इस दृष्टि से मद्रास के लोगों में अधिक सुरुचि दिखाई दी। वहां की प्राचीन वस्तुओं के बीच मलका विक्टोरिया की मूर्ति नहीं थी।"

"भारत की किस बात ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया?"

"भारत में कोई एक जाति, रंग या नस्ल के लोग नहीं बसते। वहां पर सभी जातियों और नस्लों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। आर्य लोग वहां के मूल निवासी नहीं हैं। ईसा से २००० वर्ष पूर्व वे उत्तर की ओर से आये। उनसे पहले वहां पर सिन्धु घाटी सभ्यता थी, जो काफी विकसित थी। मोहनजोदड़ो की खुदाई में जो मानव-आकृतियां मिली हैं, वे प्राचीन मिस्र से मिलती-जुलती हैं।

"आर्यों के आने से बहुत पूर्व आदिकाल से दक्षिण भारत में तमिल लोग रहते थे, जिनका रंग हब्शियों से मिलता-जुलता है। आर्य तथा आर्यों के बाद बाहर से आनेवाली जातियां सीथियन, कुषाण, यूनानी, हूण, अरब, अफगान, मंगोल और फारसी यहां की जातियों में मिलते गये और एक मिली-जुली संस्कृति का जन्म हुआ।

"भारत में कुछ लोगों का रंग गोरा है और रोमन लोगों की तरह नाक है, कुछ लोग काले है, और मोटे होंठ के हैं। उत्तरी भारत में कुछ लोगों की गालों की हड्डी उठी हैं। कलकता और बम्बई के नगरों में इस प्रकारभिन्न-भिन्न आकृतिके लोग बसते हैं। पश्चिम के लोगों ने भारतको समझने का अवतक प्रयत्न नहीं किया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कुछ समय के लिए उन्हें अवश्यमुग्ध किया, परन्तु टैगोर को समझने की कोशिश नहीं की गई। वस्तुत: भारत के अतीत, वर्तमान और भावी पथ को समझने का प्रयास नहीं हुआ।" आगे इलिया ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "भारतीयों की दृढ़ संकल्प-शक्ति ने, जो कि आध्यात्मिकता से प्राप्त होती है, मेरे ऊपर गहरा असर डाला। भौतिक प्रगति वांछनीय है,आवश्यक भी है, लेकिन आध्यात्मिकता की कीमत देकर उसका विकास उचित नहीं है।"

"हमारे समाज में पिछले दिनों तक आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन में असंतुलन रहा। अब उसे दूर किया जा रहा है। सामान्य व्यक्ति का जीवन-स्तर हम ऊंचा करना चाहते हैं। इसलिए हमारी अभिलाषा है कि कम-से-कम अगले १५-२० वर्षों में शान्ति रहे।" हमने कहा।

"आपकी बात ठीक है," इलिया बोले, "हम सबको शान्ति चाहिए। पर मुझे लगता है कि यह तभी संभव होगा, जबकि आपके सह-अस्तित्व तथा पंचशील के अनुसार हम चलें। लेकिन आप लोगों के लिए एक चीज़ बड़ी जरूरी है और वह यह कि आप जीवन में नया रस पैदा करें। नये मूल्य लावें। यह ठीक है कि आपके यहां कुछ नई चीजें हैं, लेकिन उनके साथ दो-दो हजार साल की पुरानी मान्यताएं भी हैं।"

थोड़ी देर को खामोशी हो गई। उसे भंग करते हुए इलिया बोले, "आजादी के बाद से आप लोगों ने काफी काम किया है, फिर भी बहुत-सा काम अभी करने को बाकी है। पाकिस्तान से इतने लोग आये, आपने उनमें से बहुतों को बसा दिया, लेकिन अब भी काफी लोग बेघरबार हैं। रात को रास्ते की पटरी पर सोते हैं। दिल्ली कलकत्ता में मैंने बहुत-से लोगों को इस तरह सोते देखा। मद्रास में मछुओं की हालत भी बड़ी गई-

बीती है। दिल्ली में मैं एक सम्पन्न व्यक्ति के यहां ठहरा। रात को उठकर बाहर गया तो देखता क्या हूं कि कई लोग मकान की सीढ़ियों पर सो रहे हैं। वह जाड़ों की रात थी।"

हममें से एक ने कहा, "हम लोग इस दिशा में काफी कोशिश कर रहे हैं, पर इसके लिए समय चाहिए। संगठित शक्ति से काम करने की आवश्यकता है। इसीलिए हम नहीं चाहते कि हमारी तनिक भी शक्ति झगड़ों के कामों में खर्च हो। हम किसी गुट के साथ बंधना नहीं चाहते। हमारी नीति तटस्थता की है। हमें पूरी आशा है कि अगले पचास वर्षों में हमारा देश काफी आगे बढ़ जायगा।"

इलिया से हम लोग बहुत-से सवाल कर चुके थे। इस बीच श्रीमती इलिया खामोश रहीं। अब हमने अपना ध्यान उनकी ओर दिया। हमने उनसे कहा, "इलिया के साथ आप भी तो भारत गई थीं। आपको हमारा कौन-सा शहर अच्छा लगा ?"

वह बोलीं, "यह कहना मुश्किल है कि कौन-सा शहर अच्छा लगा, पर दिल्ली से आगरे की यात्रा बड़ी रुचिकर लगी। देहाती जीवन को देखते हुए यात्रा करने का यह पहला अवसर और पहला अनुभव था। लेकिन सुनिये, मुझे सांपों को देखकर बड़ी हैरानी होती है। मैं जब भारत में थी तो वहां की दिलचस्प चीजों को देखते-देखते सांपों की बात भूल गई थी। लेकिन एक रोज आगरे में घूमते हुए अचानक सांप पर निगाह पड़ ही गई। कोई संपेरा सांप का खेल दिखा रहा था। आप यह न समझें कि सांपों से मुझे डर लगता है। नहीं, ऐसी बात नहीं है, पर सांप मुझे अच्छा नहीं लगता। नेवला अच्छा लगता है। बड़ा प्यारा होता है।"

इस पर कमलाजी ने वह कहानी सुनाई, जिसमें एक स्त्री अपने बच्चे को पालतू नेवले की देख-रेख में सोता छोड़कर काम पर चली गई थी। लौटने पर जब उसने खून में सने नेवले को बैठे देखा तो उसे ख्याल हुआ कि हो-न-हो, उसी ने बच्चे को मार डाला। क्रोध में उसने एक पत्थर उठाकर नेवले के मारा। बेचारा मर गया। तब वह अंदर गई। देखती

क्या है कि बच्चा चैन से सो रहा है और उसके पास एक सांप मरा पड़ा है। अब सारी बात उसकी समझ में आई और वह स्वामिभक्त नेवले को मारने की भूल करने पर सिर धुनकर रह गई।

इस कहानी को सुनकर इलिया मुस्करा पड़े। बोले, "हमारे लेखक चेखव भी एक नेवला सीलोन से ले आये थे। उसकी उन्होंने अपनी कई कहानियों और पत्रों में चर्चा की है।"

उनके साहित्य की चर्चा होने पर बताया कि उनकी पुस्तकों में १. आउट ऑव क्यौस, २. लव ऑव जानने, ३. एडवेंचर ऑव यूलियो यूनिनीतो, ४. थौ, ५. फाल ऑव पेरिस, ६. मास्को स्ट्रीट, ७. स्टोर्म, ८. दी नाइन्थ वे, ९. हाऊ रशा वाज टैम्पर्ड, १०. दी वर्क ऑव राइटर्स, बहुत लोकप्रिय हुई हैं। उनके अनुवाद कई भाषाओं में निकले हैं। अंग्रेजी में कम हुए हैं। एक किताब में बंगला और एक तेलुगू में भी अनूदित हुई है। हिन्दी में भी कुछ निकली हैं। सबसे अधिक अनुवाद जापान में हुए हैं। जब वह वहां गये तो उन्हें उनकी पुस्तकों के अस्सी अनुवाद भेंट किये गए। 'फॉल ऑव पेरिस' तथा 'स्टोर्म' पर उन्हें 'स्टालिन पुरस्कार' मिल चुका है।

यह पूछने पर कि आप इस समय क्या लिख रहे हैं, इलिया ने कहा, "मैं इस समय जापान, भारत और ग्रीस पर एक पुस्तक लिख रहा हूं। उसका नाम मैंने 'पूर्व और पश्चिम' रखा है। लेकिन यहां मेरा किप्लिग से भिन्न मत है। मैं इस बात को नहीं मान सकता कि पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम, और दोनों कभी नहीं मिलेंगे। मेरा विचार है कि पृथ्वी की भांति संसार एक वृत्त है, जिसको मनुष्य अपनी मनमानी से पूर्व और पश्चिम की सीमाओं में विभक्त नहीं कर सकता। एक और पुस्तक फ्रांस के साहित्य तथा कला पर लिख रहा हूं।"

"आप लेखन-कार्य कहां किया करते हैं? मास्को के घर में या यहां?"

वह बोले, "शहर में लिखने का कहां मौका मिलता है! छोटा-सा मकान है। लोगों का आना-जाना बना रहता है, फिर टेलीफोन! लिखना-पढ़ना तो इस एकान्त मकान में होता है।"

"अब आपअपनी लेखनी द्वारा भारत की संस्कृति और आध्यात्मिकता के संदेश को दुनिया के लोगों तक पहुंचाइये।"

"नहीं," इलिया बोले, "यह काम भारतीयों को स्वयं करना चाहिए। मैं तो भारत में एक मास रहा। इस अवधि को देखते मैंने आपके देश के बारे में काफी लिख डाला है। मैं उन लोगों की तरह नहीं हूं, जो किसी स्थान को बिना देखे उसपर पूरी किताब लिख डालते हैं।"

"पूरी किताब ?"

"जी हां, एक नहीं, तीन-तीन ?"

हम सब बड़े जोरों से हँस पड़े।

हँसी थमने पर मैंने पूछा, "भारतीय साहित्य के बारे में आपकी क्या राय है ?"

वह बोले, "भारतीय साहित्य में स्वाभाविकता, साहित्यिक शैली और दार्शनिक विचार मिलते हैं। परन्तु मेरे मन पर उसके दार्शनिक दृष्टिकोण की सबसे अधिक छाप है। एक बार एक पाश्चात्य पत्रिका ने लिखा था, 'भारतीय लेखकों की अधिकांश कृतियां लड़कपन की कृतियां हैं।' जब आदमी बूढ़ा हो जाता है तो उसे उत्साहपूर्ण कार्य लड़कपन दिखाई देता है।"

विषय बदलने के लिए हमने श्रीमती इलिया से पूछा, "क्या कभी-कभी इलिया लिखने में इतने व्यस्त हो जाते हैं कि खाना-पीना भी भूल जाते हों ?"

"नहीं," वह बोलीं, "मैं ऐसा नहीं होने देती।"

इस पर इलिया को न्यूटन के भुलक्कड़ स्वभाव की बात बताते हुए हमने वह कहानी सुनाई, जिसमें छोटी-बड़ी बिल्लियों के निकलने के लिए किवाड़ में दो छोटे-बड़े सूराख करने का रोचक प्रसंग आता है। इलिया हँस पड़े। बोले, "मैंने भी पेड़ पर चिड़ियों के लिए घर बनाया है। बसन्त के दिनों में फ्रांस, स्विटजरलैण्ड तथा इटली तक से चिड़ियां आती हैं। उनके प्रवेश के लिए मैंने ठीक-ठीक सूराख किया है—न बड़ा, न छोटा,

जिससे उन्हें यह डर न हो कि विल्ली भी उस सूराख से आकर उन पर हाथ साफ कर सकती है। मेरी चिड़ियां न्यूटन की बिल्लियों से अधिक चालाक हैं। क्यों, हैं न ?"

इलिया कुछ देर चुप रहे। लेकिन लगा, जैसे उनका मन भारत के पुराने पृष्ठों में उलझा है। वोले, "पच्चीस साल पहले यूरोप के लोग यह सोच भी नहीं सकते थे कि हिन्दुस्तान के निवासी अपने देश के मालिक बनेंगे। मैं जब बचपन में हिन्दुस्तान के आंदोलनों की खबरें पढ़ता था तो स्वाभाविक रूप से यह सवाल मेरे दिमाग में गूंज जाता था कि क्या हिन्दुस्तान आजाद होगा? मुझे खुशी है कि उस शुभ दिन को देखने के लिए मैं जिन्दा रहा।"

बड़ी गंभीरता से आगे उन्होंने कहा, "हिन्दुस्तान की कुछ विशेषताएं अपना ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। कलिंग की लड़ाई की भयंकर खून-खराबी से सम्राट अशोक को बड़ी ग्लानि और पछतावा हुआ। उसने ऐलान किया कि उस दिन के वाद वह कोई युद्ध नहीं करेगा। यह ऐलान जगह-जगह पर शिलालेखों में खुदवा दिया गया। दुनिया के इतिहास में यह सबसे पहली युद्ध-विरोधी घोषणा है।"

अभिभूत से होकर इलिया ने अंत में कहा, "हिन्दुस्तान में मुझे हर जगह मनुष्यता के दर्शन हुए। उसकी पत्थर की मूर्तियों में, हिन्दुस्तानियों के सरल जीवन में, उनके आंसुओं और मुस्कराहट में एक इंसान के दर्शन होते हैं।"

उनकी सूक्ष्म दृष्टि को देखकर मैं जहाँ चकित रह गया, वहां भारत के प्रति उनकी आत्मीयता ने मुझे विभोर कर दिया।

दो घंटे से अधिक हो चुके थे। हम लोगों ने उनका आभार माना और विदा चाही। सब उठे। बाहर आये। इलिया ने गुलाबों की क्यारी में जाकर जेब से कैंची निकाली और दो फूल बड़ी सावधानी से काटे। मैंने कहा, "इस अवसर पर मुझे गांधीजी का स्मरण हो आया है। वह कहा करते थे कि अगर फूल तोड़ना है तो कैंची से काटो। हाथ से ऐंठकर फूलों

को तोड़ने में उन्हें क्रूरता दिखाई देती थी।"

इलिया ने बड़े प्रेम से हाथ मिलाया, विदा दी और जबतक मोटर आंखों से ओझल नहीं हो गई, पति-पत्नी खड़े-खड़े हम लोगों की ओर देखते रहे।

... ...

इलिया से इसके बाद भारत में भेंट हुई। वह दिल्ली आये थे और सप्रू हाऊस में उनके भाषण की व्यवस्था की गई थी। भाषण के बाद मैं उनसे मिला। वह देखते ही पहचान गये। बोले, "मुझे याद है, आप कुछ दिन पहले हमारे देश में आये थे और मेरे डाचे में मुझसे मिले थे।"

फिर मुस्कराकर बोले, "मुझे यह भी याद है कि हमारे कुत्तों से आप लोग डर गये थे। अब फिर आइये।"

इलिया से यही अंतिम भेंट थी। २१ अगस्त १९६७ को ७६ वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हो गया।○

६

अविस्मरणीय चेट्टियार

थाईलैण्ड के बाद हमने कम्बोज जाने का निश्चय किया। वहां हमारे लिए सबसे अधिकआकर्षणकी वस्तु वे मन्दिर थे,जिनमें भारतीय अध्यात्म, संस्कृति, कला और इतिहास की सामग्री भरी पड़ी थी। सच यह है कि साधनों की कमी तथा कुछ अन्य कठिनाइयों के होते हुए भी हम वहाँ जाने का लोभ संवरण नहीं कर सके तो इसका मुख्य कारण वहाँ के भारतीय कला के ये अद्वितीय केन्द्र ही थे।

बैंकाक से कोई डेढ़ घंटे की उड़ान के वाद हम सियमरीयप के छोटे-से हवाई अड्डे पर उतरे। वहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर अंकोर वाट के लिए हवाई मार्ग से यहीं आना होता है।

कस्टम आदि की खानापूरी से पौन घंटे में छुट्टी मिली। छुट्टी मिलने पर हवाई अड्डे की बस से शहर की ओर रवाना हुए। सारे विदेशी यात्री वहां के ग्रांड होटल में ठहरने वाले थे, पर वह बहुत ही महंगा था और हमारे पास उतने पैसे कहां थे? बैंकाक में हमें मालूम हुआ कि शहर में एक भारतीय सज्जन रहते हैं, अतः सोचा कि उन्हीं को खोजना चाहिए। शहर तक का ७ मील का मामूली रास्ता तय करके हमारी बस सीधी ग्रांड-होटल पर पहुंची। होटल की कई मंजिल की आलीशान इमारत फ्रेंच सरकार ने बनवाई थी। बाद में वह कम्बोडियन सरकार को दे दी गई। होटल अच्छा, साफ-सुथरा था, पर एक आदमी के एक दिन के रहने और खाने-पीने के करीब ३२० रीयल अर्थात चालीस रुपये लगते थे। हमारी पूंजी तो बहुत ही सीमित थी और हमें अभी और कई देशों में जाना था।

बस रुकने पर इस आशा में कि शहर में रहनेवाले उस भारतीय का पता शायद किसी से लग जाय, हम होटल में गये। अन्दर घुसते ही उसकी शान-शौकत ने हमारा ध्यान अपनी ओर खींचा। वहां आनेवाले यात्रियों में अधिकांश साधन-संपन्न व्यक्ति होते हैं, अतः वहां वैभव इठलाता था तो वह स्वाभाविक ही था। प्रवेश-द्वार के ठीक सामने सूचना-विभाग का कार्यालय था, जहां बोर्ड पर अंकोर वाट तथा अन्य स्थानों के चित्र लगे थे और एक कम्बोडियन लड़की काउन्टर पर खड़ी तस्वीरें तथा दूसरी चीजें बेच रही थी। दांई ओर को हवाई बुकिंग आदि के दफ्तर थे। उन सबपर निगाह डालते समय अचानक हमें एक सज्जन दिखाई दिये, जो शक्ल-सूरत तथा रूप-रंग से भारतीय मालूम पड़े। हम उनके पास गये। वह काम में लगे थे। हमारे यह पूछने पर कि क्या वह भारतीय हैं, उन्होंने हमारी ओर देखा और संक्षेप में उत्तर दिया, "हां", और हमें जरा रुकने का इशारा करके मुद्रा-विनिमय का अपना काम निबटाने लगे। काम निबटने के बाद उन्होंने हमारे पास आकर अपना परिचय देते हुए बताया कि वह कारीकल (भारत) के रहनेवाले हैं। कई वर्ष से यहां हैं। इसके बाद उन्होंने हमारे बारे में पूछताछ की। हमने कहा, "क्या आप ही वह भारतीय हैं, जो यहां रहते हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया, "जी नहीं, यहां शहर में एक तमिल सज्जन हैं चेट्टियार। बाजार में उनकी दुकान है। बड़े भले आदमी हैं। मैं वहां जाने की व्यवस्था किये देता हूं। वह आपके ठहरने आदि का अच्छा और सस्ता प्रबंध कर देंगे।"

इतना कहकर वह भाई हमें साथ लेकर बाहर आये और एक मोटर-साइकिल रिक्शा १० रीयल में तय करके उसके ड्राइवर को कम्बोडियन भाषा में समझा दिया कि वह हमें अमुक जगह पर पहुंचा दे। उसे सूचना देने के पश्चात उन्होंने होटल के नौकर से हमारा सामान रिक्शा में रखवा दिया। रिक्शा-ड्राइवर को देने के लिए उन्होंने हमारी कुछ थाई मुद्रा यानी टिकल के बदले कम्बोडियन नोट दे दिए। हमने उनका आभार माना और

शहर की ओर प्रस्थान किया।

होटल से शहर की बस्ती सटी हुई थी, पर बाजार कोई मील-भर रहा होगा। रास्ता नदी के किनारे-किनारे था। थोड़े-थोड़े फासले पर नदी को पार करने के लिए पुल बने थे। पानी बहुत गहरा नहीं था और न उसके बहाव में तेजी थी। जगह-जगह पर मर्द-औरतें-बच्चे स्नान कर रहे थे। बस्ती अधिक बड़ी नहीं थी।

बाजार में पहुंचकर हमें भटकना नहीं पड़ा। रिक्शेवाले ने सीधा ठीक जगह पर पहुंचा दिया। सामने दुकान में श्याम वर्ण और सुगठित शरीर के एक सज्जन बैठे थे। उन्हें देखते ही हम समझ गए कि यही चेट्टियार हैं। हमनेउन्हें नमस्कार किया। उन्होंनेहाथजोड़कर हमारा अभिवादन किया। सामने अंग्रेजी में लिखा था—पी०ए० तिरुपति चेट्टि। यह निश्चय करके कि वही चेट्टियार हैं, हमने उन्हें एक सांस में बता दिया कि हम भारत के रहनेवाले हैं, बर्मा और थाईलैण्डहोते हुए यहां आये हैं, अंकोरवाट देखकर नामपेन[1] जायेंगे और फिलहाल दो रात ठहरने की सस्ती व्यवस्था चाहते हैं। उन्होंने चुपचाप हमारी बात सुनी, पर कोई उत्तर नहीं दिया, उनकी गंभीर भाव-भंगिमा से ऐसा लगता था, जैसे वह सोच में हों। कुछ ठहर कर उन्होंने कहा, "आई एम इंगलिश लिटिल, तमिल-फ्रेंच-कम्बोडियन वैरी वैल।" उनकी बात समझने में हमें देर नहीं लगी। वह कह रहे थे, मैं अंगरेजी कम जानता हूं, तमिल, फ्रेंच, कम्बोडियन खूब जानता हूं। अब समझ में आया किवहहमारी बातों का तत्काल और उत्साह से उत्तर क्यों नहीं दे रहे थे। अपनी टूटी-फूटी अंगरेजी में उन्होंने हमें समझाया कि हम चिंता न करें। उनके पास तो ठहरने लायक जगह है नहीं, पर वह बहुत सस्ते में हमारी व्यवस्था कर देंगे।

इसके उपरान्त उन्होंने अपनी बूढ़ी पर बेहद फुर्तीली सेविका से कम्बोडियन में कुछ कहा। सुनकर वह चली गई। उसके जाने के बाद

---

१ कम्बोज की राजधानी।

चेट्टियार ने कहा "आर यू कॉफी ? आई एम कॉफी।" हम समझ गए। वह कह रहे थे कि तुम लोगों ने कॉफी पी ली ? न पी हो तो मैं पिला दूंगा। हमने उनको धन्यवाद देते हुए इन्कार कर दिया। थोड़ी देर में सेविका एक युवक को साथ लेकर लौटी। चेट्टियार ने उससे बातें करके हमसे कहा, "यह 'सियमरीयप होटल' का आदमी है। इसके होटल में छोटे-बड़े सब तरह के कमरे हैं। आप जाकर देख लें। छोटा कमरा लेंगे तो एक रात के यह ९५ रीयल लेगा और २५ रीयल फी आदमी टैक्स। सीधे बात करने पर तो यह आप लोगों से बहुत ज्यादा लेता, पर मेरे कहने से इतने पर राजी हो गया है।"

हमने हिसाब लगाया, दो दिन के दो आदमियों के कोई तीसेक रुपये हुए। इससे सस्ता प्रबन्ध और कहां हो सकता था ? हम उस आदमी के साथ होटल में गये, जो दुकान से कुछ ही कदम पर था। ऊपर की मंज़िल में रहने के कमरे थे, वे देखे और अन्त में एक छोटा कमरा पसन्द किया। उसमें एक ही पलंग था, पर वह इतना बड़ा था कि दो आदमी आराम से उस पर सो सकते थे। उस कमरे को पक्का करके हम चेट्टियार की दुकान पर गये। जब सामान उठाने लगे तो उन्होंने कहा, "यू फ़ूड ?" पहले तो उनकी बात हमारी समझ में नहीं आई, लेकिन बाद में उन्होंने जब कहा, "आई एम फ़ूड," तो हम समझ गए कि वह पूछ रहे हैं कि आप लोगों ने खाना खाया या नहीं ? यदि नहीं खाया तो मेरे साथ खा लीजिये।

हमने उन्हें धन्यवाद देते हुए कहा, "हमने भोजन तो नहीं किया, पर आप कष्ट न करें।"

चेट्टियार ने पुनः अंगरेजी का एक-एक शब्द बोलकर हमें समझाया कि उन्हें कोई कष्ट नहीं होने वाला। वह अकेले हैं। उनकी पत्नी और लड़की नामपेन गये हैं। वह अपने लिए खाना पकाते ही हैं, हमारे लिए भी बना लेंगे। बोले, "आप लोग नहा-धोकर आ जाइये, तबतक खाना तैयार हो जायेगा।"

इन दाक्षिणात्य सज्जन का नाम दक्षिण-पूर्व एशिया की प्रवास-संबंधी

एक पुस्तक में पढ़ा था, पर मिलने का यह पहला अवसर था। उनकी आत्मीयता को देखकर मेरे साथी विष्णु प्रभाकर और मैं गद्‌गद् हो गये। होटल आये। कमरे में सामान जमाया। स्नान आदि से छुट्टी पाकर कुछ खाया, फिर थोड़ी देर आराम करके दुकान पर गये। भोजन तैयार था और चेट्टियार हमारी राह देख रहे थे। उन्होंने अन्दर मेज पर प्लेटें लगा दीं। गरम-गरम चावल, दाल और साग पाकर ऐसा लगा कि अपने देश में हों। चेट्टियार ने खाना खिलाते समय बड़े ही स्नेह का परिचय दिया।

भोजन कर चुकने पर वह बोले, "आप लोग अभी अंकोर वाट और समय रहे तो अंकोर थॉम हो आवें। यहां देखने की बहुत-सी चीजें हैं और आप लोगों के पास वक्त बहुत थोड़ा है।"

हमने आपस में सलाह की। विष्णुभाई बोले, "इनका कहना ठीक है। एक बात यह भी है कि बादल हो रहे हैं। अगर बारिश आ गई तो निकलना मुश्किल हो जायगा। इसलिए अभी चले चलें।"

जाने के लिए हमारी रजामंदी मालूम होते ही उन्होंने एक मोटर-साईकिल रिक्शे वाले को बुलाकर ७० रीयल में तय किया। बोले, "यू सैविन्टी रीयल, अदर टू हण्ड्रेड।" उनकी भाषा अब हमारी समझ में आने लगी थी। हमने समझ लिया कि वह कह रहे हैं, यह रिक्शा आप लोगों के लिए ७० रीयल में किया है। दूसरे से तो यह दोसौ रीयल ले लेता।

दो दिन हम खूब घूमे और जितने देख सकते थे, उतने मंदिर देखे। बारहवीं शताब्दी के इन देवालयों के बारे में जितना सुना था, उससे बढ़ कर ही उन्हें पाया। कम्बोज और भारत के संबंध कितने प्रगाढ़ रहे हैं, उसके ये मंदिर साक्षी हैं।

घूमने के अलावा हमारे पास जितना समय बचा, वह हमने चेट्टियार की दुकान पर बिताया। दुकान सियमरीयप के मुख्य बाजार में थी। अतः चेट्टियार से जहां बातें करने का मौका मिला, वहां बाजार में लोकजीवन की धारा के प्रवाह को भी देखने की सुविधा हुई। चेट्टियार अकेले भारतीय थे, जो उस नगरी में वर्षों से रह रहे थे। उनका जन्म सन् १६०१ में दक्षिण

भारत के रामनाद जिले के अन्तर्गत चेट्टिनाद नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता कम्बोडिया की राजधानी नामपेन में बेंकर थे। सन् १९१४ में चेट्टियार जन्मभूमि को छोड़कर अपने पिता के पास आ गए और २७ वर्ष नामपेन में रहकर सन् १९४१ में सियमरीयप में आकर बस गए। बीच-बीच में कुछ समय के लिए भारत आते रहे। भारत में उन्होंने विवाह किया। भारतीय पत्नी से एक लड़की और लड़का है, जिनका विवाह हो चुका है।

भारतीय पत्नी वहां कभी नहीं आई, पर उनका लड़का नामपेन में व्यापार करता है। सन् १९३४ में उन्होंने चीनी मिश्रित रक्त की एक कम्बोडियन महिला से फिर विवाह कर लिया, जो अब उनके साथ रहती है। उससे एक लड़की है। बाएं हाथ की कन्नी और उसके पास की अंगुलियों के एक-एक इंच से भी बड़े नाखूनों को देखकर जब मैंने कौतूहल-वश उनके बारे में पूछा तो उन्होंने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया, "फादर डाइड नाइन्टीन नाइन्टीन, दिस स्टाप्ड।" अर्थात् सन् १९१९ में पिताजी की मृत्यु होने पर कन्नी उंगली का नाखून काटना बन्द कर दिया और सन् १९२८ में मां के मरने पर उसके पास की उंगली का।

५९ वर्ष की अवस्था में भी चेट्टियार बड़े स्फूर्तिवान थे। बैत जैसी रोतन नाम की घास की भांति-भांति की टोकरियां आदि चीज़ें वहां बहुत सुन्दर बनती हैं। चेट्टियार की दुकान में उनके अतिरिक्त कपड़ा तथा और भी कुछ चीज़ें थीं। जो भी भारतीय वहां आता है, उसकी बड़े उल्लास से सेवा करते थे। सन् १९५४ में पं० जवाहरलाल नेहरू वहां गये तो उन्होंने उनके लिए चायपार्टी की १२ हजार रीयल खर्च करके व्यवस्था की। तीन वर्ष बाद डॉ० राधाकृष्णन और सन् १९५९ में राजेन्द्रबाबू गये तो उन्होंने उनके आतिथ्य में भी कोई कसर न उठा रखी। राजेन्द्रबाबू के भोजन की व्यवस्था स्वयं की। भारतीय नेताओं के साथ चित्र और उनके पत्र उन्होंने बड़ी सावधानी से संभाल करके रखे थे। राजेन्द्रबाबू ने तो अपना एक चित्र हस्ताक्षर करके भेंट-स्वरूप भेजा था, जिसे दिखाते हुए उनकी आंखें

चमक उठती थीं। "आप राष्ट्रपति से मिलें तो उन्हें नमस्कार कह दीजिये।" ये शब्द हमसे कहते-कहते उनकी आंखें डबडबा आईं। उन्होंने बताया, "इन तथा अन्य भारतीय नेताओं के आने के बाद से अब साल में कोई दो सौ भारतीय पर्यटक उधर आ जाते हैं। पाकिस्तान से भी लोग आते हैं। मैं आदमी-आदमी के बीच भेद नहीं करता। कौन किस जाति का है, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, स्यामी, कम्बोडियन, मेरे लिए सारे इन्सान बराबर हैं और सबके लिए मेरे घर का द्वार खुला है। मैं यहां खुश हूं। अब तो इतने साल रहते हुए हो गए, काम-धंधा भी यहीं है। देश में घरवाली है, उसे बराबर रुपये भेजता रहता हूं। नागरिकता मेरी अब भी भारतीय है। सन् १९५२ में भारत गया। अब देखिये, कब जाना होता है!'

चेट्टियार केवल दुकानदार ही नहीं है, फ्रेंच सरकार के समय में शाही पार्टी के विरोधी दल के विरुद्ध सहायता करने के उपलक्ष्य में तत्कालीन सरकार से एक तमगा और हजार पियास्टर प्राप्त कर चुके हैं। दो तमगे कम्बोडियन सरकार से। पहला कम्बोज की डिफेंस नेशनेल की ओर से सन् १९५५ में मिला, जो औपचारिक रूप से २८ जून, १९५९ को दिया गया। दूसरा उसी वर्ष में बहादुरी के लिए मिला। एक बार वह कहीं जा रहे थे। रास्ते में डाकुओं से मुठभेड़ हो गई। उन अकेले ने दो डाकुओं को वहीं मार डाला और बाकी पांच को गहरी चोटें दीं। यह तमगा उन्हें समारोहपूर्वक १७ मार्च, १९५९ को दिया गया।

हालांकि चेट्टियार अब उस देश में बस गए हैं और सालों वहां रहते हो गए हैं, फिर भी अपने देश को और अपने देशवासियों को भूले नहीं हैं। उनके कमरे मेंआज भी भारत के राष्ट्रीय नेताओं—गांधीजी, राजेन्द्रबाबू, नेहरूजी, सरदार पटेल, मौलाना आजाद, राजाजी, पट्टाभि सीतारमैया तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू—के चित्र लगे हैं। ऊपरी मंजिल के पूजा-घर में विभिन्न धर्मों के प्रवर्तकों के चित्रों के बीच गांधीजी का चित्र लगा है। पर उस व्यक्ति की अनुशासनप्रियता देखकर हम दंग रह गये। सवेरे के

जैसे ही सात बजे कि चेट्टियार एकदम उठकर सैनिक की भांति सावधान की मुद्रा में खड़े हो गए। थोड़ी देर बाद बैठते हुए उन्होंने बताया कि यहां के राजा नोरोदोम सुरामरिथ की मृत्यु के कारण रोज शाम को ५। बजे झंडा नीचे कर दिया जाता है और सवेरे ७ बजे ऊपर चढ़ा दिया जाता है। राष्ट्रीय बैण्ड बजते ही दोनों समय सारा काम रुक जाता है और जबतक बैण्ड की ध्वनि समाप्त नहीं होती, कोई आदमी अपनी जगह से हिलता तक नहीं। भारत की नागरिकता होने से चेट्टियार वहां के रीति-रिवाज मानने के लिए बाध्य नहीं हैं, पर जीविका देनेवाली भूमि के प्रति स्वेच्छा से अंगीकृत दायित्व को निभाने में वह पूरी तरह सजग हैं।

दूकान से अन्दर जाते हुए एक ओर को एक आलमारी रखी थी, जिसके खानों में बहुत-सा सामान भरा था। एक दिन शाम को बातचीत में बोले, "यू टाइगर ? आई एम टाइगर।" हम नहीं समझ पाये कि वह क्या कह रहे हैं। एकाध सवाल करके खुलासा कराया तो मालूम हुआ कि वह पूछ रहे थे, "आप लोगों ने चीता देखा है! मेरे पास है।" हमने विस्मय से उनकी ओर देखा। मुस्कराते हुए चेट्टियार उठे और उस आलमारी के नीचे के खाने में हाथ डाला। हमें लगा, वह टार्च या मोमबत्ती ढूंढ़ रहे हैं। लेकिन वह जो लाये, वह सात दिन का चीते का बच्चा था। हमने कहा, "इसे खिलाते क्या हैं ?" बोले, "मेरी बिल्ली ने दो बच्चे दिए हैं। यह उन्हीं के साथ रहता है और बिल्ली का दूध पीता है।"

कम्बोडिया की मौजूदा हालत पर प्रकाश डालते हुए चेट्टियार ने बताया कि कम्बोडियन स्वभाव से शांतिप्रिय और संतोषी लोग हैं। फ्रेंच सरकार ने उन्हें नौकरियों की ओर खींचकर परावलम्बी बना दिया है। अपना व्यवसाय करने की उनमें क्षमता नहीं रही। नतीजा यह कि यहां का ज्यादातर व्यापार चीनियों के हाथ में चला गया है। पच्छिम की हवा यहां तेजी से आ रही है और लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार आदि पर गहरा असर डाल रही है। पहले यहां औरतें लम्बे बाल रखती थीं, फिर शादी के बाद कटवाने लगीं और अब तो फैशन का ऐसा भूत सवार

हुआ है कि छोटी उमर से ही वालों को कटवाकर घुंघरूदार करा लेतीहैं।

उन्होंने वताया कि थाईलैण्ड की भांति यहां भी मुर्दों को कुछ समय रखने के वाद जलाने की प्रथा है। घर में गमी होने पर कुछ लोग सिर के वाल मुड़वा लेते हैं। शोक के दिनों में सफेद कपड़े पहनने का रिवाज है। बौद्ध भिक्षुणियां भी सफेद पोशाक पहनती हैं। जब हमें यह बात मालूम हुई तो हम समझे कि हमारे सफेद कपड़ों की ओर लोग आंखें गड़ाकर क्यों देखते थे।

साहित्य के प्रति चेट्टियार की अन्वेषक की रुचि देखकर हमें वड़ा ताज्जुव हुआ। वह कई भाषाएं जानते हैं और उन्हें अच्छी तरह से वोल भी लेते हैं। वातचीत में उन्होंने वताया कि कम्वोडियन भाषा में २५ प्रतिशत तमिल के और ३५ प्रतिशत संस्कृत के शब्द हैं। उच्चारण में थोड़ा भेद अवश्य है, लेकिन उनका मूल उद्‌गम संस्कृत और तमिल है। वीथि को कम्वोडियन में 'विथाई' कहते हैं, मनुष्य को मनु, पुरुष को पुरो, विद्यालय को विद्यशाला, मंत्री को मंत्रे, आचार्य को आचान, स्त्री को सिरई (श्री), कुमार-कुमारी को कुमार-कुमारई, भार्या को पियरीय, कार्यालय को कार्यालय, पंडित को पंडित, राजकुमार को क्षत्री आदि-आदि। उन्हें सैकड़ों शब्द याद थे। यदि कोई भाषा-शास्त्री उधर की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन विधिवत् रूप से करे तो वास्तव में वड़ा उपयोगी कार्य हो।

हम जब अंकोर वाट, अंकोर थॉम, वैंतई समरे तथा वैंतई सिरई देखने जा रहे थे तो हमने चेट्टियार से कहा कि इन ऐतिहासिक स्थानों के सम्वन्ध में कुछ साहित्य हो तो हमें दे दें। वह वोले, "अंगरेजी में तो वहुत-सी पुस्तकें निकली हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति के महान् केन्द्र होते हुए भी भारतीय भाषाओं में इन पर विस्तार से कुछ भी नहीं निकला। मैंने इस दिशा में थोड़ी-सी कोशिश की है। महीनों लगाकर मैंने हर स्थान का तमिल में विस्तृत परिचय तैयार किया है।"

इतना कहकर उन्होंने कई कापियां निकालकर हमारे सामने रख दीं। मोती जैसे अक्षरों में उस व्यक्ति ने उन सव स्थानों का इतिहास ही नहीं

लिखा, उनकी एक-एक चीज का परिचय भी दिया था। वैंतई समरे और वैंतई सिरई के प्रवास में एक तमिल-भाषी सज्जन वैंकटरमन और उनकी पत्नी उस सामग्री का उपयोग करते रहे। हमें यह देखकर अचरज हुआ और हर्ष भी कि वारीक-से-वारीक रेखाओं तथा छोटे-से-छोटे दृश्यों तक का उन्होंने परिचय दिया है। यदि वे कापियां हमारे साथ न होतीं और वैंकट रमन अथवा उनकी पत्नी उन्हें पढ़-पढ़कर न सुनाते जाते तो हम बहुत-सी जानकारी से वंचित रह जाते। लौटकर हमने चेट्टियार का आभार मानते हुए उनसे कहा, "ये पुस्तकें जल्दी-से-जल्दी छप जानी चाहिए। इतना ही नहीं, सारी भारतीय भाषाओं में इनके अनुवाद भी होने चाहिए।"

चेट्टियार गम्भीर होकर वोले, "मैं स्वयं चाहता हूं कि ये छप जायं, जिससे यहां आनेवालों को अपनी संस्कृति के इतने मूल्यवान अवशेषों की अच्छी तरह से जानकारी मिल जाय। लेकिन हमारे लोगों में उत्साह की बड़ी कमी है। वे इन स्थानों के महत्व को नहीं समझते। नेहरूजी जव यहां आये तो अंकोर वाट और अंकोर थॉम तो उन्हें दिखा दिये, लेकिन वैंतई समरे और वैंतई सिरई के लिए कह दिया कि वहां जाना ठीक नहीं होगा, क्योंकि रास्ता वहुत ही खराव है। पर नेहरूजी कहां मानने वाले थे! वह वहां गये और उन जगहों को देखकर बड़े खुश हुए। भारत से और दूसरे देशों से लोग इन स्थानों को देखने जायंगे तो ये वचे रहेंगे, नहीं तो गिर-गिराकर वरावर हो जायंगे और वियावान जंगल में उनका पता भी नहीं चलेगा।"

उनकी वात में कितनी सचाई थी, उसे उन जगहों को देखने के वाद हम अच्छी तरह समझ सके। एक भी स्थान ऐसा नहीं है, जो अखंडित रूप में हो। वहुत-सी दीवारें, जिन पर वड़े ही मूल्यवान पौराणिक आदि दृश्य अंकित हैं, गिर चुकी हैं और शेष गिरती जा रही हैं। कुछ ही सालों में वे ईंट-पत्थर का ढेर रह जायंगी। चेट्टियार की चिन्ता के पीछे भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा देखकर हम लोगों का हृदय गद्गद

हो उठा।

"आप लोगों के पास समय की कमी है।" उन्होंने कहा, "लेकिन सच बात यह है कि ये सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थल भाग-दौड़ में देखने के नहीं हैं। एक-एक जगह पर कई-कई दिन ठहरकर अच्छी तरह देखने पर असली आनन्द आता है। एक-एक रेखा का महत्त्व है। कलाकारों ने एक भी दृश्य अकारण नहीं रखा।"

फिर कुछ रुककर बोले, "आप भारत सरकार से कहें कि वह यहां भारतीय इतिहास और भारतीय संस्कृति के विद्वानों को भेजे, जो यहां आकर दो-चार साल रहें और गहराई से इन चीजों का अध्ययन करें। विदेशी लोगों की इनमें इतनी दिलचस्पी है कि उनके विद्वानों ने सालों अध्ययन-निरीक्षण करके वहुत-सा साहित्य रच डाला है। उस साहित्य का भी उपयोग किया जा सकता है। उसमें वहुत-सी बातें काम की हैं। लेकिन कुछ चीजें उन्होंने गलत भी लिख डाली हैं। फ्रेंच लोगों ने जिन्हें अवलोकितेश्वर बताया है, वे वास्तव में या तो ब्रह्मा हैं या शिव। इस वारे में अच्छी तरह से खोज होनी चाहिए।"

अपनी वाह्याकृति से रूखे लगनेवाले चेट्टियार की सहृदयता वास्तव में दुर्लभ थी। संस्कृति की वात करते-करते वह द्रवित हो उठे और जव वैंकट रमन और उनकी पत्नी को उन्होंने विदा किया तो उनकी आंखों में आंसू झलक आए।

उस छोटी-सी नगरी में चेट्टियार का बड़ा मान है। देहातों से टोकरियां आदि सामान लेकर उसे वेचने जव ग्रामीण युवतियां अथवा वृद्धाएं उनकी दुकान पर आतीं तो उनके प्रति बड़ा आदर-भाव व्यक्त करतीं। हमारे सामने ही दो-तीन वार उन्होंने सामान खरीदकर पैसे दिये तो सामान बेचने वाली महिलाओं ने घुटने के बल धरती पर बैठकर, सिर झुकाकर, उन्हें प्रणाम किया।

चलने से पहले चेट्टियार ने हमें नामपेन के लिए एक पता दिया और सेगांव के लिए एक पत्र। उस में उन्होंने अपने मित्र को इतना तक लिख

दिया कि वह हमारे ठहरने की ही नहीं, खाने-पीने और घुमाने की भी व्यवस्था कर दें।

तीसरे दिन उनसे विदा लेते समय विष्णुभाई ने कहा, "हमारे योग्य कोई सेवा हो तो बताइये।"

वह बोले, "हिन्दुस्तान पहुंचकर मुझे भूलिये नहीं। पत्र लिखिये। बस इतना ही मैं चाहता हूं। मौका मिले तो फिर आइये।"

वह हमें रिक्शे तक पहुंचाने आए। हमने नमस्कार किया तो उन्होंने भी हाथ जोड़कर सिर झुका दिया। हमने देखा, उनकी आंखें गीली हो रही थीं, जैसे अपने किसी प्रियजन को विदा करते समय हो जाती हैं। उस सदाशयी बंधु के वे शब्द आज भी मेरे कानों में गूंजते हैं, "हिन्दू, कम्बोडियन, क्रिश्चियन, मुस्लिम, स्यामी, नो डिस्टिंकशन। मैन मैन।" अर्थात्, मेरे लिए हिन्दू, कम्बोडियन, ईसाई, मुसलमान, स्यामी के बीच कोई भेदभाव नहीं है। मेरे लिए सारे इंसान बराबर हैं।○

७ | एक थाई मनीषी से भेंट

पूर्व अफ्रीका, मारीशस, फिजी आदि में घूमकर जव वैंकाक के हवाई अड्डे पर उतरा तो मन में वड़ी सुखद अनुभूति हो रही थी। इसलिए नहीं कि वह मेरी ढाई महीने और १५ देशों की लम्वी यात्रा का अंतिम पड़ाव था, वल्कि इसलिए कि उस देश के प्रति मेरे हृदय में गहरा अनुराग था। हालांकि वैंकाक के लिए मैं कुल जमा दो दिन निकाल सका था, फिर भी कुछ ऐसी निश्चिन्तता-सी मालूम हो रही थी, जैसा कि व्यक्ति वहुत दिनों की और लम्वी यात्रा के वाद अपने घर पहुंचने पर अनुभव करता है।

पांच साल पहले दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों का प्रवास करते हुए मेरे मित्र विष्णु प्रभाकर और मैं वहां गए थे और सात-आठ दिन उस देश में रहे थे। खूब घूमे थे। अजुध्या, नगर प्रथम, वांगसैन और न जाने क्या-क्या देखा था। जहां गये, वहीं हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति की धाराएं वहती दिखाई दीं। राम के चरित का प्रकाश चारों ओर फैला था और थाई लोकजीवन में से उसकी किरणें फूट रही थीं।

उस समय 'थाई कल्चरल लाज' के हम मेहमान वने थे। इस वार भी मैं वहीं ठहरा। उस संस्था के संचालक पं० रघुनाथ शर्मा को, जिन्होंने आग्रहपूर्वक मुझे वहां वुलाया था, अचानक भारत चले आना पड़ा था, लेकिन उनकी अनुपस्थिति में उनके सहयोगियों ने असुविधा नहीं होने दी, वल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि मेरे आने की सूचना मिलने पर वह स्वयं ही सारा आवश्यक प्रवंध कर गये थे।

अन्य कार्यक्रमों के बीच मेरी स्वाभाविक इच्छा थाई भाषा, साहित्य, संस्कृति और इतिहास के प्रख्यात विद्वान फाया अनुमान रचथोन से मिलने की हुई। वह 'थाई-भारत कल्चरल लाज' के अध्यक्ष थे। पिछली बार के प्रवास में उनके साथ जो समय बीता था, उसकी एक-एक बात मेरी स्मृति में थी। पं० रघुनाथ शर्मा, विष्णुभाई और मैं एक दिन शाम के ६।। बजे उनके यहां पहुंचे थे। मकान उनका बहुत बड़ा न था, पर साफ-सुथरी बस्ती में था। फाटक खोलकर जैसे ही हमने अन्दर प्रवेश किया कि दो कुत्ते बड़ी तेजी से दौड़कर हमारी ओर आये और कुछ कदम पर रुक कर जोर-जोर से भौंकने लगे। हम ठिठक गये। उनमें एक तो दुबला-पतला, पर बेहद फुर्तीला था और दूसरा डीलडौल में ऐसा था कि देखते ही दिल दहल उठे। उनके शोर को सुनकर भीतर से कोई सज्जन आये और उन्होंने उन दोनों बहादुरों को हटाकर एक तरफ कर दिया, फिर हमें साथ ले जाकर अन्दर ड्राइंग रूम में बिठाल दिया। ड्राइंग रूम लकड़ी का था, स्वच्छ और सुरुचिपूर्ण। सामने आलमारियों में बहुत-सी पुस्तकें रक्खी थीं। ऊपर खिलौने सजे थे। पास में एक बड़ी घड़ी टंगी थी। एक कोने में तिपाई पर कांच की सुराही रक्खी थी।

ड्राइंग रूम की चीजों को हम बड़े मनोयोग से देख रहे थे कि इतने में फाया अनुमान रचथोन आ गये। हम लोगों ने खड़े होकरनमस्कार किया। उन्होंने प्रत्युत्तर में हमारा अभिवादन करते हुए सोफे पर बैठने का संकेत किया। रचथोन बुशशर्ट और पतलून पहने थे। चेहरा और सिर एकदम बालों से रहित था और उभरी आंखें उनकी निश्छलता और उन्नत ललाट एवं उस पर की रेखाएं उनकी चिंतनशीलता का परिचय दे रही थीं।

उनके बैठते ही चर्चा आरंभ करते हुए विष्णुभाई ने कहा, "आप सन् १९४६ में एशियाई देशों की कांफ्रेन्स में थाई शिष्टमण्डल के नेता के रूप में दिल्ली आये थे। तब मैं आपसे मिला था। आपने बड़े निश्चय से कहा था कि हमसे अधिक हमारी संस्कृति के रक्षक आप हैं। आपने यह भी बताया था कि थाई भाषा पर संस्कृत का बड़ा प्रभाव है। मुझे याद है,

आपने कहा था कि आपका नाम मूल में संस्कृत नाम है अनुमान राजधन; लेकिन स्यामी उच्चारण में 'राजधन' का 'रचथौन' हो गया है, तथापि लिखा वह शुद्ध संस्कृत रूप में ही जाता है। उस समय की लम्बी बातचीत पर मैंने एक लेख लिखा था।"

रचथौनजी बड़े ध्यान से उनकी बातें सुनते रहे और उनके समर्थन में बीच-बीच में सिर हिलाते रहे। मैंने पूछा, "आप उस समय दिल्ली में कितने दिन रहे थे ?"

बोले, "ज्यादा दिन नहीं रहा।"

"आप दूसरी बार भारत गये या नहीं ?"

"जी हां, मैं दूसरी बार सन् १९५५ में बौद्ध कांफ्रेंस में वहां गया था। उस समय में अशोक होटल में ठहरा, लेकिन मेरी कई रातें रेल में कटीं। आगरा गया, वहां से फतेहपुर सींकरी, फिर काशी, कुशीनारा, बोधगया होता हुआ कलकत्ता पहुंचा।"

मैंने कहा, "तो आपने स्वतंत्र भारत भी देखा है। लौटकर आपने भारत के बारे में कुछ लिखा ?"

"जी हां, एक लेख लिखा। पर वह थाई भाषा में है। मेरी कठिनाई यह है कि मेरे पास काम बहुत रहता है और आप जानते ही हैं कि समय सीमित है। इस समय मैं थाई विश्वकोश की तैयारी में लगा हूं। उसके साथ-साथ 'नेशनल गजेटीयर आफ थाइलैंड' का काम भी चालू है। उसमें कोई दो हजार पृष्ठ होंगे। वह इंपीरियल गजेटीयर आफ इंडिया की भांति नहीं होगा। इसके अतिरिक्त मैं थाई भाषा के चालू शब्दों की डिक्शनरी (डिक्शनरी आफ थाई करेंट वर्ड्स) तैयार कर रहा हूं, जिसके पूर्ण होने में चार-पांच वर्ष लगेंगे। थाई इतिहास के संशोधन का काम भी चल रहा है। इस तरह आप देखते हैं कि मेरे हाथ कितने घिरे हुए हैं।"

मैंने पूछा, "आपने मौलिक रूप में क्या लिखा है ?"

कुछ सोचते हुए बोले, "मौलिक रूप में मैंने थाई संस्कृति, रीति-रिवाज, नारी-समाज, विवाह-पद्धति, कृषि आदि पर काफी लिखा है।"

"आपकी किसी पुस्तक का अंग्रेजी या अन्य किसी भाषा में अनुवाद हुआ है ?"

"कुछ चीज़ें तो मैंने अंग्रेजी में ही लिखी हैं। थाई भाषा की एक रचना का अनुवाद अंग्रेजी में हुआ है—'लाइफ आफ ए फार्मर इन थाईलैण्ड' (थाईलैण्ड में एक कृषक का जीवन)। वास्तव में मेरी मुश्किल यह है कि मैं अंग्रेजी अच्छी तरह नहीं जानता।"

स्पष्ट था कि यह बात मुख्य रूप से शिष्टाचारवश कही गई थी। सच यह था कि वह अंग्रेजी खूब जानते थे।

प्रसंग बदलते हुए विष्णुभाई ने पूछा, "वर्तमान थाई साहित्य अर्थात् उपन्यास, कहानी आदि की क्या स्थिति है ?"

उन्होंने कहा, "उनका विकास इस समय बड़ी तेजी से हो रहा है। नये-नये लेखक तैयार हो रहे हैं। लेकिन असल बात यह है कि अधिकांश नये लेखकों का विशेष अध्ययन नहीं होता और बहुत से लेखक तो प्रायः पैसे के लिए लिखते हैं। फिर भी थाई साहित्य की अभिवृद्धि आशाजनक रूप में हो रही है।"

"आपके यहां अन्य भाषाओं से अनुवाद भी हो रहे हैं क्या ?"

"जी हां, सरकार कुछ कर रही है। लेकिन हमारे यहां ट्रांसलेशन-सोसायटी जैसी संस्था नहीं हैं।"

विष्णुभाई ने आगे कहा, "यूनेस्को विभिन्न भाषाओं के उत्तम ग्रंथों का अनुवाद करा रहा है। हमारे देश से प्रेमचन्दजी के 'गोदान' को अनुवाद के लिए लिया गया है। और भी बहुत-से ग्रंथ चुने गए हैं। क्या आपके यहां से भी कोई पुस्तक ली गई है ?"

बोले, "अभी तो नहीं, पर आपकी और हमारी तुलना क्या ? आपके यहां कितने विश्वविद्यालय हैं। हमारे यहां तो कुल एक है।"

अपने प्रिय विषय पर बात आरंभ करते हुए मैंने कहा, "दो देशों के बीच राजनैतिक संबंध स्थायी नहीं होते। जोर से तूफान आता है कि राजनीति का महल ढह जाता है, लेकिन साहित्यिक और सांस्कृतिक

संबंधों की जड़ें गहरी होती हैं। उन्हीं पर हमें जोर देना चाहिए। यह इसलिए भी आवश्यक है कि वर्तमान समय में राजनैतिक विग्रह बहुत है।"

"आपकी बात ठीक है।" वह बोले, "लेकिन साहित्यिक आदान-प्रदान में सबसे बड़ी हमारी कठिनाई अनुवाद की है। दूसरे, यह काम व्यय साध्य भी है। लेकिन ऐसे कामों को 'थाई-भारत-कल्चरल लाज' जैसी संस्था उठा सकती है।"

मैंने कहा, "मुझे आपके यहां की स्थिति का पता नहीं, लेकिन यदि चुनी हुई लोकप्रिय पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में रोचक शैली में प्रामाणिक अनुवाद हो तो उनके प्रकाशन की व्यवस्था बिना विशेष कठिनाई के हो सकती है। गुजराती के सुविख्यात लेखक स्व० झवेरचन्द मेघाणी ने बर्मा के लोकजीवन पर प्रकाश डालते हुए बड़ा सुन्दर एवं भावपूर्ण उपन्यास लिखा है, जिसका अनुवाद मराठी और हिन्दी में हुआ है। वह बहुत ही पसन्द किया गया है। यदि इस प्रकार की चीजें लिखी और अनुवाद के लिए चुनी जाएं तो उनके प्रकाशन की आसानी सेव्यवस्था हो सकतीहै।"

"आपकी बात सही है।" उन्होंने गम्भीरता से कहा, "पर रोचक और प्रामाणिक अनुवाद करना टेढ़ी खीर है। उसके लिए दो भाषाओं पर पूर्ण अधिकार चाहिए।"

इसी बीच उनकी परिचारिका एक थाई युवती चारगिलासों में पानी लेकर आई और फर्श पर घुटनों के बल टिककर उसने गिलासों को मेज पर रख दिया और जिस शालीनता मे वह आई थी उसी शालीनता से सिर झुकाए चली गई।

घड़ी में पौने आठ हो रहे थे। हमें लगा कि कहीं उन्हें और कोई काम न हो। उठने का इशारा जैसे ही किया कि वह बोले, "नहीं, मुझे कोई जल्दी नहीं है। आप बैठें। मैं शाम को ६ बजे भोजन कर लेता हूं।"

भोजन का प्रसंग आ जाने पर उन्होंने कहा, "मैं करीब-करीब शाकाहारी हूं। चिकनाई कम-से-कम लेता हूं। मक्खन आदि से बचने की मेरी कोशिश रहती है।"

बातचीत का सिलसिला पुनः चालू करने की दृष्टि से मैंने कहा, "भारत और थाई संस्कृतियों में बड़ी समानता है।"

विष्णुभाई ने इसकी पुष्टि करतेहुए कहा, "आज हम वाट फो (बौद्ध मन्दिर) देखने गये थे। दीवारों पर रामायण के अनेक प्रसंग खुदे हुए थे।"

"जी हां, ऐसे बहुत से प्रसंग यहां मिलते हैं। पर यह कहना कठिन है कि वे किस रामायण पर आधारित हैं। विभिन्न देशों में रामायण पृथक-पृथक रूपों में प्रचलित हैं।"

"आपने कौन-सी रायायण पढ़ी है ?"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, "पढ़ी तो मैंने कई रामायणें हैं, पर अध्यात्म रामायण को मैं आधारभूत मानता हूं। आपके देश में भी रामायण के कितने संस्करण हैं—वाल्मीकि रामायण,तुलसी रामायण, कम्वन रामायण, वंगला में कृतिवास रामायण, इसी प्रकार इंडोनेशिया, वियतनाम, मलाया, वर्मा, कम्वोडिया के अपने-अपने संस्करण हैं।"

विष्णुभाई ने कहा, "वर्मा की रामायण यहीं से गई थी।"

"जी नहीं, वहां कम्वोडिया का संस्करण प्रचलित है। (हंसकर) पता नहीं, ये लोग क्यों और कैसे थाईलैण्ड को वीच में छोड़कर कम्वोडिया पहुंच गए !"

"क्या आपके यहां गांधीजी की आत्मकथा का अनुवाद हुआ है ?"

उन्होंने कहा, "नहीं, गांधीजी की किसी पुस्तक का अनुवाद नहीं हुआ ! हां, उनकी आत्मकथा के आधार पर स्वामी सत्यानंद पुरी ने गांधीजी की जीवनी लिखी है।"

शर्माजी ने कहा, "नेहरूजी की 'मेरी कहानी' का थाई भाषा में अविकल अनुवाद हुआ है।"

" 'विश्व इतिहास की झलक' का अनुवाद नहीं हुआ ?" विष्णुभाई ने पूछा, "वह तो संसार की सर्वोत्तम कृतियों में से है।"

रचथौनजी बोले, "नहीं, उसका अनुवाद नहीं हुआ।" प्रसंग बदलते हुए उन्होंने पूछा, "आप लोग यहां क्या-क्या देख चुके हैं ?"

हमारे कई चीजें बताने पर वह बोले, "यहां के संग्रहालय को अवश्य देखिए। उसमें आप हनुमान को देखेंगे, पर यहां के हनुमान आपके हनुमान से भिन्न हैं। वह आपके यहां की भांति बाल ब्रह्मचारी नहीं हैं। उन्होंने पांच विवाह किये और वह सीता और राम के पुत्र माने जाते हैं। आप लोग तो दो पंक्तियों में उनका वर्णन कर सकते हैं, पर हमें तो उनका परिचय देने के लिए दो हज़ार पृष्ठ लिखने होंगे।"

इसके उपरान्त वह फिर साहित्यिक आदान-प्रदान की बात पर आ गए। शर्माजी की ओर संकेत करके उन्होंने कहा, "साहित्य के आदान-प्रदान का काम इनके द्वारा 'थाई-भारत कल्चरल लाज' से होनाचाहिए।"

शर्माजी ने मुस्कराकर कहा, "मैं तो अब ६३ साल का हो गया हूं।

इस पर रचथोनजी हंस पड़े। बोले, "उसमें नौ साल और जोड़ दीजिये। मैं ७२ साल का हूं। पिछले दिनों जब मैं हांगकांग जाने को था तो डाक्टर ने कहा कि आप ७० से ऊपर हो गए हो। सफर मत करो। हम आपकी कोई जिम्मेदारी नहीं ले सकते। मैंने उनकी बात नहीं मानी। गया, लेकिन डाक्टर का मतलब साफ है कि अब ज्यादा भाग-दौड़ और काम मुझे नहीं करना चाहिए।"

समय बहुत हो गया था। हमने चर्चा समाप्त की। हमारे उठते-उठते वह बोले, "मेरी पत्नी को अतिथियों का आना बहुत पसन्द है। कोई नहीं होता तो मैं बराबर लिखने-पढ़ने में लगा रहता हूं। मेरा हर घड़ी लिखने-पढ़ने में लगा रहना उन्हें अच्छा नहीं लगता। वह चाहती हैं कि मैं इतना काम न करूं और तन्दुरुस्त रहूं।"

उनकी पत्नी पास ही कमरे में दूसरी ओर को बैठी थीं। हमने वहां जाकर उन्हें नमस्कार किया। बड़ी फुर्तीली दिखाई दीं। पान खाने से उनके होंठ लाल-सूर्ख हो रहे थे। पता चला कि पानों का उन्हें बड़ा शौक है।

रचथोनजी हमें बाहर पहुंचाने आये। विदा लेते हुए मैंने कहा, "हम लोगों की कामना है कि आप दीर्घजीवी हों और नई पीढ़ी को आपका मार्गदर्शन बहुत दिनों तक मिलता रहे।"

उन्होंने हाथ जोड़कर प्रत्युत्तर में कहा, "जीवेम शरदःशतम् ।"

... ...

इस वार के प्रवास में उनसे मिलने गया तो वह उसी मकान में थे। मिलते ही उन्होंने कहा, "पिछली वार जव आप आए थे तव हम लोगों ने एक संध्या साथ विताई थी। काफी चर्चाएं की थीं।"

फिर उन्होंने पूछा, "आप कहां से आ रहे हैं और कव तक बैंकाक में रहेंगे ?"

मैंने उन्हें संक्षेप में वताया कि मैं कई देशों की यात्रा करके आ रहा हूं और अगले दिन शाम को मुझे भारत चले जाना है।

वह मुस्कराये। वोले, "थाइलैण्ड केलिए यहसमयतो वहुत थोड़ाहै।"

मैंने कहा, "जी हां, पर मैं क्या करूं। मारीशस और फीजी में जितना सोचा था उससे ज्यादा समय लग गया।" फिर कुछ ठहरकर मैंने पूछा, "इन सालों में आपने क्या-क्या लिखा है ?"

वोले, "नया तो कुछ नहीं लिखा। जो चीजें हाथ में थीं, उन्हीं को निवटा रहा हूं। इधर मैंने एक वड़ा रोचक निवंध लिखा है—'थाई चार्म्स एण्ड एम्यूलेट्स।' यह निवंध स्यामीसोसायटीके जर्नल में छपा है। उसकी एक प्रति मैं आपको भेंट करता हूं।"

इतना कहकर वह अन्दर गए और थोड़ी देर में अपने निबंध की एक प्रति लेकर लौटे। उसकी तस्वीरें दिखाते हुए वोले, "यह वड़ी मजेदार बात है कि अलंकरण तथा तावीज आदि जो यहां मिलते हैं, ठीक वैसे ही दूसरे स्थानों पर भी मिलतेहैं। उनमें से वहुतों के नाम और आकृतियां भी प्रायः एक-सी हैं। इनके उपयोग की भावना भी वहुत कुछ समान है। लोग मानते हैं कि इनसे खतरे और अनिष्ट टल जाते हैं। इन्हें पुराने जमाने में ही इस्तेमाल नहीं करते थे, आज भी करते हैं।"

यह सव वे एक सांस में कह गए। वोले, "इस संबंध की शोध जितनी मनोरंजक है, उतनी ही ज्ञानवर्द्धक भी है।"

मैंने कहा, "भारत में भी इन चीजों की कमी नहीं है।"

बोले, "जी हां, आपकी बात ठीक है।"

निबंध के आरंभ में वह अपने हाथ से कुछ शब्द भेंट के लिखकर लाए थे। मुझे लगा कि यदि मैं भी अपनी पुस्तकें उन्हें भेंट करने के लिए लाया होता तो अच्छा होता, लेकिन तभी विचार आया कि वह हिंदी नहीं जानते और मेरी पुस्तकें हिन्दी में हैं। अपनी भावना जब मैंने उनके सामने प्रकट की तो वह बोले, "मैं हिंदी नहीं पढ़ सकता। अंग्रेजी भी कम ही जानता हूं। अंग्रेजी लिखने में काफी जोर पड़ता है और समय भी लगता है। आज कल के जरा-जरा से लड़के-लड़कियां फर्राटे से अंग्रेजी बोलते हैं और लिखते हैं। वे समझते हैं कि हमारा जमाना तो अब गया। हमें अटक-अटक कर बोलते और रुक-रुककर लिखते देखकर वे हंसते हैं। यह स्वाभाविक ही है। पर..."

वह कुछ रुके। फिर बोले, "वे नहीं जानते कि उनका ज्ञान कितना ऊपरी है, उथला है। जो हो, यह तो ठीक ही है कि हमारा अंग्रेजी का ज्ञान और अभ्यास बहुत सीमित है।"

हम लोग पांच साल बाद मिले थे, पर इन सालों में उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। ७७ वर्ष की अवस्था में वही उत्साह और वही उमंग थी। विद्या-व्यसन में भी अंतर नहीं आया था।

मैंने कहा, "अब आप दिल्ली कब आ रहे हैं?"

बोले, "दिल्ली मुझे बहुत पसंद है। मैं वहां कुछ समय रहना चाहता हूं। मेरा लड़का राजदूत है। उसकी बदली दिल्ली हो जाए तो मैं भी वहां पहुंच जाऊं। देखिये, यह कब संभव होता है।"

उन्हें घर के लोगों के साथ कहीं जाना था। वे सब तैयार होकर बाहर खड़े थे। यह देखकर मैंने उनसे विदा ली। वह बाहर तक पहुंचाने आये। मेरे आग्रह पर उन्होंने बड़े सहजभाव से चित्र खिचवाया और जब मैं चलने को हुआ तो उन्होंने हाथ नहीं मिलाया, बल्कि अपने देश की प्रथा और संस्कृति के अनुसार हाथ जोड़कर कहा, "स्वस्ति।" (आपका जाना मंगलमय हो। हम फिर मिलेंगे।)○

८

बर्मी साधक की स्मृति

हमारे दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के प्रवास का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक एवं सांस्कृतिक था। इसलिए जिन-जिन देशों में हम गये, वहां की संस्कृति और साहित्य की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने की हमारी इच्छा रही। इस जिज्ञासा के फलस्वरूप हमें बहुत-से ऐसे स्थानों को देखने का अवसर मिला, जहां संस्कृति की दृष्टि से बड़ी ही मूल्यवान सामग्री विद्यमान थी और ऐसे साहित्यकारों से भेंट हुई, जिनका साहित्य की अभिवृद्धि में विशेष योगदान रहा था। रंगून की ऐसी ही एक भेंट ने हमारी बर्मा-यात्रा को चिर-स्मरणीय बना दिया। बर्मा की राजनीति तथा साहित्य में वयोवृद्ध बर्मी साधक कोडो म्हाइंग का अपना स्थान रहा है।[1] हमारे मित्र श्री श्यामाचरण मिश्र की प्रेरणा से एक दिन तीसरे पहर हम लोग उनसे मिलने गये। हमारी टोली में विष्णुभाई और मेरे अतिरिक्त श्यामाचरण-जी तथा तरुण बर्मी साहित्यकार श्री पारगू थे। पारगू हिन्दी अच्छी जानते हैं और रंगून-स्थित भारतीय राजदूतावास में काम करते हैं।

मुगल स्ट्रीट से सात-आठ मील की दूरी पर जब एक छोटे-से मकान पर हमारी मोटर रुकी तो वहां की बस्ती और लोगों के रहन-सहन को देखकर लगा कि वहां मामूली हैसियत के लोग रहते हैं। छंद स्ट्रीट के पांच नम्बर के मकान के छोटे-से फाटक को खोलकर अन्दर गये। सहन में दोनों

---

१. जुलाई १९६४ में कोडो म्हाइंग का देहान्त हो गया।

ओर को थोड़ी-सी हरियाली थी। सामने एक वर्मी महिला खड़ी थी। पारगू ने उससे वर्मी में बात करके हमें वताया कि कोडो म्हाइंग घर में हैं। अन्दर वरामदे में कुर्सी पर एक वुजुर्ग वैठे दिखाई दिये। हमने उन्हें नमस्कार किया। पारगू ने कहा, "यह कोडो म्हाइंग नहीं हैं।" हम कमरे में पहुंचे। सामने सोफा तथा कुछ कुर्सियां पड़ी थीं। उन्हीं पर हम सव वैठ गये और कमरे की चीजें देखने लगे। मकान लकड़ी का था। कमरे में कई चित्र टंगे थे, जिनमें तीन तो स्वयं कोडो म्हाइंग के थे। एक चित्र वर्मी नेता औं सौं का था, एक शान्ति के प्रतीक कपोत का, कुछ प्राकृतिक दृश्यों के, एक पगोडा का। दो आलमारियों में पुस्तकें थीं और दो में विभिन्न प्रकार के खिलौने तथा वांस की सुनहरी वस्तुएं। एक आलमारी में एक सुन्दर गुड़िया थी। अन्दर का कमरा यद्यपि पूरी तरह से दिखाई नहीं दे रहा था, तथापि एक आलमारी दरवाजे के सहारे ही रखी दीख रही थी, जिसमें किताबें भरी हुई थीं।

थोड़ी देर तक वैठे-वैठे कमरे की चीजों पर निगाह डालते रहे, इतने में वरावर के कमरे से कोडो आये। वृद्धावस्था ने उन्हें पूरी तरह आक्रांत कर रखा था। आकृति में वह गढ़वाली जैसे लगते थे। चेहरे पर सफेद मूंछें, सिर पर वड़े-वड़े खिचड़ी वाल। आते ही उन्होंने हमारा अभिवादन किया। पारगू ने परिचय कराया। उन्होंने हाथ जोड़कर नमस्कार किया, हाथ मिलाया और सोफे पर वैठ गये। उसी समय उनके जामाता जेया आ गये। जेया खुद अच्छे लेखक थे और कोडो के साथ ही रहते थे। अंग्रेजी के जानकार होने के कारण दुभाषियेका काम उन्होंने ही किया। वर्षों से कोडो के साथ रहने से उन्हें वहुत-सी वातें मालूम थीं। इसलिए हमारे कई सवालों के जवाव उन्होंने स्वयं ही दिये। कोडो के उदास चेहरे को देखकर हमने उनके स्वास्थ्य के वारे में पूछा तो मालूम हुआ कि उनकी तवियत ठीक नहीं है। जेया ने यह भी वताया कि उनकी एक आंख की ज्योति जाती रही है और वह उसका आपरेशन कराने के लिए शीघ्र ही पूर्व जर्मनी जानेवाले हैं। मैंने कोडो से पूछा, "आजकल आप क्या लिख रहे हैं ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "आजकल मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। इस-लिए लिखना-पढ़ना नहीं हो रहा है।"

"आपने लिखना कब आरम्भ किया ?"

"आज से कोई ६० साल पहले। इस समय मेरी उमर ८८ साल की है। मेरा जन्म सन् १८७२ में हुआ था।"

"आपको लिखने की प्रेरणा कब और कैसे हुई ?"

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया कि सन् १८८५ में अंग्रेज़ों ने बर्मा के अन्तिम राजा तीबो को मांडले के राजमहल में गिरफ्तार कर लिया और यह घटना उनकी आंखों के सामने घटी। उस समय उनकी अवस्था कोई १३ साल की थी। इस घटना का उनके दिल पर गहरा असर पड़ा और वह अंग्रेजों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। तभी से उन्हें लिखने की प्रेरणा हुई।

आगे उन्होंने बताया कि उनका वास्तविक नाम ऊ लुन था, लेकिन 'छि, मांग बैते' नामक उपन्यास को पढ़कर उन्होंने अपना नाम 'मौं म्हाइंग' रख लिया। उस उपन्यास में एक कुंजड़े का जीवन न केवल हेय रूप में चित्रित किया गया था, अपितु उसके द्वारा निम्न वर्ग की खिल्ली उड़ाई गई थी। उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उन्होंने 'मिस्टर मौं म्हाइंग मारोबो' उपन्यास लिखा, जिसमें उच्च वर्ग की भ्रष्टता को पाठकों के सामने रखा। लगभग २८ वर्ष की आयु में उन्होंने लिखना आरम्भ किया। शुरू में गद्य-पद्य दोनों में लिखा, लेकिन बाद में जन-सामान्य तक पहुंचने के लिए उन्हें गद्य अधिक शक्तिशाली माध्यम लगा।

मेरे यह पूछने पर कि उनके साहित्यिक जीवन तथा लेखन-कार्य का किस प्रकार विकास हुआ, जेया ने बताया कि प्रारम्भ में उन्होंने नाटक लिखे, जिनका प्रकाशन जबू चैत्ती (जम्बू श्री) प्रकाशन-गृह से हुआ। सन् १९०५ में कोडो 'न्यूज वीकली' के संपादक हुए, १९०७ में राष्ट्रीय दैनिक पत्र 'तूर्या'(सूर्या) के। 'तूर्या' नाम कोडो ने ही रखा, क्योंकि अंग्रेज बर्मी राजा तीबो को जिस जहाज में बन्दी बनाकर ले गये थे, उसका नाम

'तूर्या' ही था।

उनका पहला नाटक था 'ठीला पोऊ', जो अपर बर्मा के एक आख्यान पर आधारित था। दूसरा था 'श्वे डगोन पगोडा एण्ड दी टाइग्रेस', तीसरा 'सम्राट अशोक'। इनके अलावा २०-२२ नाटक और थे। चार कविता-संग्रह थे, जिनमें से केवल एक प्राप्य था। नाटकों में से अधिकांश अप्राप्य थे।

कहानियां भी उन्होंने सैकड़ों लिखी थीं। उनमें से अधिकतर राष्ट्रीय थीं। उनकी रचनाओं ने अनेक लेखकों, कवियों तथा उपन्यासकारों को लोक-हितकारी साहित्य के सृजन की प्रेरणा दी थी। उनकी एक कृति 'तखिनतीका' में दासता की तीव्र निन्दा करते हुए राष्ट्र के जागरण तथा स्वातंत्र्य के लिए प्रयत्नशील होने का आह्वान किया गया था, साथ ही राष्ट्र के कर्णधारों के दायित्वों एवं कर्तव्यों का निर्देश करते हुए विदेशी सत्ता की भर्त्सना की गई थी।

''क्या आप बर्मा से वाहर भी गये हैं ?'' मैंने पूछा।

''हां, सन् १९५२ में मैं पहली बार रूस गया। मैं 'सोवियत-बर्मी मैत्री-संघ' का संस्थापक हूं। रूस की सरकार ने मुझे आमन्त्रित किया था। बाद में हंगरी गया। वहां से लौटते हुए सन् १९५२ में फिर मास्को गया।''

कोडो थके हुए दिखाई दे रहे थे। इसलिए मैंने जेया से कहा कि वह चले जायं और आराम करें, हम लोग आपस में बातें कर लेंगे। लेकिन उनके जाने से पहले मैं उनका एक चित्र लेना चाहूंगा। जेया ने उनसे पूछा। वह सहर्ष तैयार हो गये, पर उसके लिए सीधे वाहर उजाले में नहीं गये। पहले अपने कमरे में गये, कपड़े बदले, फिर आये। उन्होंने दूसरी लुंगी पहन ली थी और दूसरी ऐंजी, सिर पर पगड़ी। इस बीच मैंने वाहर सहन में एक कुर्सी डलवाकर उनके बैठने की व्यवस्था करा ली थी।

चित्र खिंचने के बाद कोडो आराम करने नहीं गये, फिर सोफे पर आ बैठे और चर्चा चल पड़ी।

''आजकल आप क्या चिन्तन कर रहे हैं ?'' मैंने पूछा।

"मैं देश में आंतरिक शांति स्थापित करना चाहता हूं। उसके लिए आठ व्यक्तियों की एक शांति-समिति है, जिसका मैं अध्यक्ष हूं। स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी मुझसे जो बनता है, वह करता रहता हूं।"

"नये लेखकों को प्रेरणा देने के लिए आप क्या कर रहे हैं ?"

"मिलने पर उन्हें राष्ट्र-सेवा करने के लिए प्रोत्साहित करता हूं।"

मेरे यह पूछने पर कि वह भारत गये या नहीं, जेया बोले, "जी हां, ये तीन-चार बार भारत हो आये हैं। आखिरी बार सन् १९५६ में गये थे। श्रीलंका में विश्व-शांति परिषद् हुई थी। उसी में शामिल होने गये थे। जाते समय मद्रास में रुके और वह भवन देखा, जिसमें मांडले के राजा को रखा गया था। उसे बुरी दशा में देखकर इन्हें बड़ी वेदना हुई। कांग्रेस के बाद वह फिर भारत आये और बोधगया, काशी, श्रावस्ती, नालन्दा, पटना और दिल्ली गये। नेपाल भी।"

"लौटकर इन्होंने भारत के बारे में कुछ लिखा ?"

"जी हां, एक-दो लेख लिखे।"

"भारत और वर्मा के बीच कोई साहित्यिकशृंखला नहीं है।" मेरा अगला सवाल था, "आप उस बारे में क्या सोचते हैं ? वह कैसे कायम हो सकती है ?"

उन्होंने कहा, "आपकी बात ठीक है कि भारत और बर्मा के बीच इस समय कोई साहित्यिक शृंखला नहीं है, लेकिन इन दोनों देशों के बीच जो प्रवृत्तियां चल रही हैं, वे कोई-न-कोई शृंखला पैदा कर देंगी ?"

"यदि इस कार्य को विधिवत रूप से संचालित करने के लिए 'भारत-वर्मा-साहित्य-परिषद्' जैसी कोई संस्था स्थापित हो तो कैसा होगा ?"

"बहुत अच्छा होगा। मेरा स्वास्थ्य इस दिशा में सक्रिय रूप से कुछ करने में बाधक है, लेकिन इस ओर मेरा प्रयत्न तो बराबर रहा है। 'बर्मी लेखक-संघ' का मैं प्रथम संरक्षक हूं। भारत और वर्मा के बीच साहित्यिक दृष्टि से बहुत-कुछ सामान्य है, क्योंकि हमारा बहुत-सा साहित्य भारतीय कथानकों और विषयों पर आधारित है।"

आजकल वह क्या लिख रहे हैं ? इस सवाल के जवाव में जेया ने कहा, "इन्होंने काफी लिखा है, पर उसपर कोई कापी-राइट नहीं है। जो चाहे, छाप ले। प्रकाशकों ने इनकी पुस्तकों को छापा, लेकिन रायल्टी के रूप में कुछ नहीं दिया। अव अधिकांश पुस्तकें अप्राप्य हैं। पन्द्रह पुस्तकों के पुनर्मुद्रण की व्यवस्था हो रही है। रूस और चीनवाले इनकी सारी सामग्री अनुवाद और प्रकाशन के लिए एकत्र कर रहे हैं।

विष्णुभाई ने कहा, "वे लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं ? शायद कोडो की वाम-पक्षी विचार-धारा के कारण ?"

जेया इसका उत्तर टाल गये।

मैंने कहा, "इनकी कुछ पुस्तकों के अनुवाद-प्रकाशन की व्यवस्था हिन्दी में भी हो सकती है।"

जेया वोले, "अनुवाद का काम बड़ा कठिन है। इनकी रचनाएं इतनी दुरूह हैं कि इनके साथ वरसों रहने पर भी मैं अक्सर चक्कर में पड़ जाता हूं। कालिदास के 'शाकुंतलम्' का अनुवाद मैंने बर्मी में करना चाहा, पर सफलता नहीं मिली। मूल लेखक के भावों को यथार्थ रूप से दूसरी भाषा में उतारदा बड़ा कठिन है।"

जेया यह सब कह रहे थे, लेकिन मेरी आंखें सामने वैठे उस साधक को देख रही थीं, जिसने किसी समय में अपनी तेजस्विता से बर्मा की तरुणाई को नया उत्साह और नई उमंग दी थी। अपनी वात कहते-कहते जेया कुछ रुके। फिर बोले, "शान्ति के लिए इन्होंने अथक प्रयास किया है। सन् १९५५ में रूसी सरकार की ओर से लोक-साहित्य के निर्माण के उपलक्ष्य में इन्हें स्टालिन शांति-पुरस्कार प्रदान किया गया था। वाद में अपने देश में सत्ता के लिए पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने की प्रेरणा देते हुए कोड़ो ने वड़े मार्मिक शब्दों में कहा था, 'मैं वृद्ध हो चला हूं। मृत्यु के सन्निकट हूं। यदि मुझे शान्ति से मरने देना चाहते हो तो गृह-युद्ध बन्द करो।'"

कोडो की अस्वस्थता को देखते हुए हमने उनसे विदा मांगी। खड़े

होकर बड़े प्रेम से हाथ जोड़कर उन्होंने हमें नमस्कार किया। हम उन्हें उनके कमरे तक पहुंचाने गये। कमरा बड़ा आडम्वरहीन था—दो-एक चित्र उसमें लगे थे, नीचे लकड़ी के फर्श पर उनका विस्तर विछा था।

उन्हें प्रणाम करके वाहर आये तो मेरा मन वार-वार पीछे दौड़ रहा था। ठीक था कि साहित्य में नई पीढ़ी उभरकर बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही थी, और कोडो उस दौड़ में पिछड़ गये थे, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि वर्मी साहित्य को ऊंचे स्तर पर ले जाने में उन्होंने अपनी विशेप देन दी थी।○

९

भारत-प्रेमी द्याकोव

साहित्य द्वारा भारत और रूस के बीच गहरे सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से मास्को में जो संस्थाएं महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं, उनमें दो संस्थाएं प्रमुख हैं। एक है—विदेशी भाषा प्रकाशन-गृह (फॉरिन लैंग्वेजैज पब्लिशिंग हाउस), जो रूसी साहित्य को भारतीय तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशित करता है। दूसरी है 'प्राच्य संस्थान' (ओरियंटल इन्स्टीट्यूट), जो अन्य भाषाओं की चुनी हुई कृतियों को रूसी भाषा में निकालता है। मास्को पहुंचने के एक-दो दिन बाद ही मैं प्राच्य संस्थान में गया। वहां के भारतीय विभाग के अध्यक्ष श्री चेलिशेव से भेंट हुई। चेलिशेव हिन्दी के अच्छे ज्ञाता हैं। धाराप्रवाह हिन्दी बोलते हैं और लिखने का भी मजे का अभ्यास है। भारत के साहित्य और साहित्यकारों में उनकी विशेष दिलचस्पी है। उन्होंने मुझसे कहा कि आप हमारी संस्था के संचालक प्रो०अलेक्सेई मुखाइलोविचद्याकोवसे अवश्यमिलें। अन्य मित्रोंने भीउनसे मिलने का आग्रह किया। लेकिन मुझे मालूम हुआ कि द्याकोव महोदय वृद्ध हैं और उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। अतः मैंने सोचा कि उन्हें कष्ट देना उचित नहीं होगा। किन्तु इसी बीच प्राच्य संस्थान के हिन्दी-विभाग की तमाराबहन ने अकस्मात प्रो० द्याकोव से मेरे लिए समय ले लिया। मैं उस बहन को साथ लेकर उनसे मिलने गया। मुझे मालूम हो गया था कि द्याकोव प्राच्य संस्थान के संचालक मात्र नहीं हैं, बल्कि वह उस संस्था के एक प्रमुख स्तम्भ हैं। इतना ही नहीं, रूस के महान् इतिहासज्ञों में

उनकी गणना होती है। जिस समय समाजवादी क्रान्ति हुई, उनकी अवस्था २०-२२ वर्ष की थी। उन्होंने अपनी जवानी क्रांति को सफल बनाने और समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में लगाई। उस समय उनका कार्य-क्षेत्र ताशकन्द था। उन्होंने फारसी सीखी, उर्दू का अध्ययन किया और ताशकन्द के विद्यालय में मार्क्सवाद और लेनिनवाद की शिक्षा देते रहे।

तमाराबहन ने रास्ते में मुझसे कहा, "भारतीय समस्याओं का जितना गहरा और व्यापक अध्ययन इन प्रोफेसर महोदय का है, उतना कम ही लोगों का आपको मिलेगा। उनकी 'भारत में राष्ट्रीयताओं का निर्माण' अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। मजे की बात यह है कि अच्छी अंग्रेजी जानते हुए भी वह आपसे आपकी भाषा—हिन्दी-—में ही बात करेंगे। आपको बड़ा आनन्द आवेगा।"

बड़ी सड़क को छोड़कर एक तंग गली में जब हम एक मकान पर रुके और तमारा ने कहा कि यही उनका घर है तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। बड़ा मामूली-सा मकान था। मैंने तो स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि इतनी बड़ी संस्था का संचालक और इतना बड़ा इतिहासज्ञ एक छोटे-से मकान में रहता होगा। पर रूस के आर्थिक संगठन तथा समाज-व्यवस्था की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वहां आवश्यकता के अनुसार चीजें मिलती हैं, पद के अनुसार नहीं।

मकान कई मंजिल का था। द्याकोव ऊपर के एक तल्ले में रहते थे। लिफ्ट से हम लोग उनके तल्ले पर पहुंचे और घंटी बजाई। क्षणभर में एक ऊंचे कद और फुर्तीले शरीर के सज्जन ने दरवाजा खोला और हाथ जोड़-कर अभिवादन करते हुए कहा, "नमस्कार! आइये।"

मुझे यह समझते देर न लगी कि यही सज्जन प्रो० द्याकोव हैं। चूंकि तमारा ने मुझे रास्ते में बता दिया था कि वह हिन्दी अच्छी तरह से जानते हैं, इसलिए उनके हिन्दी में अभिवादन करने पर मुझे अचरज नहीं हुआ, उल्टे खुशी हुई।

वह मुझे अपने अध्ययन-कक्ष में ले गये, जो बड़ा ही आडम्बरहीन था।

सामान के नाम पर उसमें एक बड़ी मेज, तीन कुर्सियां, एक पलंग तथा आलमारियों में कुछ पुस्तकें। बस ! बैठते ही उन्होंने हिन्दी में कहा, "क्षमा कीजिये, मुझे अंग्रेजी में बात करना अच्छा नहीं लगता। हम लोग हिन्दी में बात करेंगे। मेरी भाषा में उर्दू के शब्द अधिक रहते हैं। आशा है, आपको उससे कोई असुविधा नहीं होगी।"

मैंने कहा, "बिल्कुल नहीं। मैं स्वयं उर्दू जानता हूं। इसलिए उर्दू के शब्दों को समझने में मुझे जरा भी कठिनाई या असुविधा नहीं होगी।"

इसके उपरान्त मैंने उनकी कुशल-क्षेम पूछी और यह जान लेने के बाद कि अब उनका स्वास्थ्य पहले से कुछ ठीक है, चर्चा प्रारंभ करते हुए कहा, "तमारा बताती हैं कि आप भारत हो आये हैं। वहां कब गये थे ?"

बोले, "पिछले २४ दिसम्बर (१९५६) को गया था, ३ मार्च तक वहां रहा। खूब घूमा। आगरा, लखनऊ, मेरठ, काशी, कलकत्ता, पुरी, भुवनेश्वर, कटक, कोणार्क, मद्रास, त्रिवेन्द्रम, कोयम्बटूर, उटकमण्ड, मैसूर, बैंगलौर, हैदराबाद, औरंगाबाद, अजंता, एलोरा, बम्बई, दिल्ली आदि-आदि देखे।"

मेरे यह पूछने पर कि आपको इन सबमें अच्छा नगर कौन-सा लगा, उन्होंने कहा, "यह बताना मुश्किल है। मुझे कहीं भी अधिक समय रहने को नहीं मिला। दो-दो, तीन-तीन दिन एक-एक स्थान पर रहा। फिर भी कोणार्क का मन्दिर मुझे बहुत अच्छा लगा। प्राचीन होने के साथ-साथ उसकी कला अद्‌भुत है। एलोरा भी बहुत सुन्दर है। अजंता भी पसन्द आया, लेकिन एलोरा के बराबर नहीं। वहां के कुछ चित्र खराब हो गये हैं। इसके अलावा वहां चित्र-ही-चित्र हैं। एलोरा में मूर्तियां भी हैं। शहरों में सबसे दिलचस्प लखनऊ लगा। कह नहीं सकता, क्यों ? काशी अच्छी नहीं लगी। वहां गंदगी बहुत है। साधू-संन्यासी-फकीर मुसीबत करते हैं। पैसा मांगते हैं। घाट वहां काफी हैं और अच्छे हैं। सबसे बुरा मुझे कलकत्ता में कालीघाट पर लगा, जहां बकरों का बलिदान किया जाता है और खून बहता है।"

"आप क्या किसी कांफ्रेंस में भारत गये थे ?"

"जी नहीं, मैं एक वड़ी पुस्तक तैयार कर रहा हूं—'हिन्दुस्तान की कौमें।' उसी के सिलसिले में सोवियत सरकार ने भेजा था। चूंकि कौमों पर पुस्तक तैयार करनी है, इसलिए मैंने कोशिश की कि ज्यादा-से-ज्यादा घूमकर अधिक-से-अधिक लोगों से मिलूं, वहां की चीजों को देखूं और अपने विषय का अध्ययन करूं। मुझे खेद है कि मैं आसाम और पंजाव नहीं जा सका। केरल मुझे वड़ा अच्छा लगा। वहां नारियल के पेड़ हैं, समुद्र है। कैसा अच्छा लगता है। कन्याकुमारी से कोचीन तक कार में गया, वहां से रेल द्वारा कोयम्बटूर। मैं मलयालम नहीं जानता था, सो अंग्रेजी से काम लेना पड़ा। हैदरावाद में उर्दू से काम चल गया।"

मैंने कहा, "आप इतना घूमे। भारत में आपको क्या खासियत मालूम हुई ?"

उन्होंने तत्काल उत्तर दिया, "वहां के गांव और गांवों का माहौल। मेरठ के नजदीक के एक गांव में मैं ठहरा और इधर-उधर खूब घूमा। लोगों से मिला। स्कूल देखे। लोग बड़े भले और प्रेमी स्वभाव के लगे। उन्होंने मेरा आदर किया। उनका व्यवहार बड़ा मधुर था।"

मैंने कहा, "भारत के गांवों की सबसे बड़ी विशेषता ही यहहै कि वहां के लोग एक विशाल परिवार की भांति रहते हैं। वहां यह जानना बड़ा मुश्किल होता है कि कौन किस जाति का है।"

वह बोले, "आपका कहना ठीक है। इस ओर मेरा भी ध्यान गया। बहुत-से लोग मेरे साथ थे। वे आपस में एक-दूसरे को ऐसे सम्बोधन करते थे, मानो एक ही घर के हों। हिन्दू-मुसलमान आदि सबको मैंने ऐसा ही पाया। सबसे अच्छे मुझे हिन्दुस्तान के आदमी लगे। वे गांवों में रहते हैं। खूब खुश हैं और खुशी से बातें करते हैं। मजे की बात यह है कि हिन्दुस्तान के गांवों का आर्थिक संगठन कुछ ऐसा है कि पता ही नहीं चलता कि कौन अमीर है और कौन गरीब। शहरों में यह बात साफ मालूम हो जाती है। वहां अमीर-गरीब के रहन-सहन और पहनावे में बड़ा फर्क है। केरल

में कई धर्मों के लोग हैं—ईसाई, हिन्दू, मुसलमान, आदि-आदि ; पर उनमें भी मुझे कोई ऊंच-नीच का भेद दिखाई नहीं दिया—न कपड़े-लत्ते से, न रीति-रिवाज से ।"

"दिल्ली आपको कैसी लगी ?"

"नई दिल्ली बहुत सुन्दर शहर है, पर उस पर यूरोप का बड़ा प्रभाव है। उसमें भारतीयता नहीं है। पुरानी दिल्ली भारतीय है, पर बहुत सुन्दर नहीं है।"

मैंने पूछा, "आपको मन्दिरों में कौन-सा मन्दिर अच्छा लगा ?"

कुछ रुककर उन्होंने कहा, "सच बात यह है कि मुझे नये मंदिर नहीं भाये। शहरों के मन्दिर अक्सर गन्दे दिखाई दिये। वहां पण्डे-पुजारियों की भरमार होती है और वे लोगों की जेब से ज्यादा-से-ज्यादा पैसे निकालने की कोशिश करते हैं। दक्षिण का शुचीन्द्रम् का मन्दिर मुझे बहुत ही अच्छा लगा। महाबलीपुरम् तथा कोणार्क के मन्दिर भी बड़े प्रिय मालूम हुए। भुवनेश्वर में तो निरे मन्दिर हैं।"

मैंने कहा, "जी हां, वह 'मंदिरों का नगर' कहलाता है।"

"आपका कहना ठीक है। विदेशी होने के कारण जगन्नाथपुरी के मन्दिर में मुझे नहीं जाने दिया गया। भुवनेश्वर के एक मन्दिर में भी जाने से रोक दिया। मुझे बताया गया कि उसमें विदेशी नहीं जा सकता। मीनाक्षी के मन्दिर की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी थी, लेकिन समयाभाव के कारण वहां जाने का अवसर नहीं मिल पाया।"

"भारत में आप नेहरू आदि नेताओं से मिले ?"

"जी नहीं, उन दिनों चुनाव की सरगर्मी थी। सब लोग इधर-उधर घूम रहे थे। हां, उड़ीसा में श्री हरेकृष्ण मेहताब से मिला। उन्होंने मुझे अपने साथ ही ठहराया। उड़ीसा के बारे में उनसे बहुत बातचीत हुई।"

विषय बदलने के विचार से मैंने पूछा, "हिन्दुस्तान में आपको खाने-पीने में तो तकलीफ़ नहीं हुई ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "बिल्कुल नहीं, बल्कि वहां की खाने-पीने की

चीजें मुझे बहुत पसन्द आईं। (कुछ हंसकर) लेकिन कलकत्ते का रसगुल्ला और सन्देश अच्छा नहीं लगा। बहुत मीठा था। दक्षिण के भोजन में मिर्चें बहुत थीं, पर वे बुरी नहीं लगीं। वहां की रसम और दही की खट्टी छाछ, जो उनके खाने में जरूर रहती है, अच्छी लगी।"

"यात्रा से लौटकर आपने भारत के बारे में कुछ लिखा ?"

"जी हां, एक लम्बा लेख लिखा, जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। लेकिन सुनिये, मैं तो हिन्दुस्तान के विषय में बहुत पहले से लिखता आ रहा हूं। मेरी कई किताबें हैं। वे रूसी में निकली हैं। 'नेशनल क्वश्चन इन इंडिया एण्ड ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म' सन् १९४८ में निकली, 'इंडिया ड्यूरिंग एंड आफ्टर दी सैकिंड वर्ल्ड वार' का, जो सन् १९५२ में प्रकाशित हुई, अनुवाद मलयालम में हुआ है। वहां के 'नवयुगम' पत्र के सम्पादक दामोदरम् ने किया है। तीसरी पुस्तक है 'नेशनल स्ट्रक्चर ऑफ दी पॉप्यूलेशन ऑव इंडिया।' इनके अलावा बहुत-से लेख लिखे हैं, जैसे 'रिपब्लिक ऑफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान।' मैंने पाकिस्तान के खिलाफ बहुत लिखा है। वहां के लोग अच्छे हैं, पर उनकी नीति मुझे पसन्द नहीं है।"

मेरे यह पूछने पर कि अब आप क्या लिख रहे हैं, वह बोले, "अब मैं कोई एक हजार पृष्ठ की पुस्तक लिख रहा हूं—'कंटेम्पोररी हिस्ट्री ऑव इंडिया फ्रोम १९१८ टू दी माडर्न टाइम्स।'

"भारत का राष्ट्रीय आंदोलन गांधीजी के नेतृत्व में सन् १९१८ से प्रारम्भ हुआ था। इसीलिए मैंने अपने इतिहास के आरंभ के लिए वह तिथि चुनी है। इस आंदोलन में सारे देश ने भाग लिया, लेकिन एक बड़ी कठिनाई है और वह यह कि हमें उस जन-आंदोलन की सामग्री एक स्थान पर नहीं मिलती। नेहरू की पुस्तकें हैं, तेन्दुलकर की 'लाइफ ऑफ महात्मा' की जिल्दें हैं, सुन्दरलाल का 'भारत में अंग्रेजी राज' है। ये सब पुस्तकें अच्छी और उपयोगी हैं, पर हिन्दुस्तान के महान् आंदोलनों से सम्बन्धित सामग्री उनमें एक जगह नहीं मिलती।"

मैंने डॉ० पट्टाभि सीतारामैया के 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित

'कांग्रेस का इतिहास' की ओर संकेत किया। वह बोले, "यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें कांग्रेस का इतिहास है, ऐतिहासिक मसविदे हैं; लेकिन उसमें जन-आंदोलन पर कम ध्यान दिया गया है। जो पुस्तकें मिलती हैं, उनमें इतिहास है, जन-आंदोलन की झांकी नहीं है।"

प्रो० द्याकोव का यह कहना स्वाभाविक था। उनके जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा आम लोगों के बीच उनकी सेवा करते बीता था और अब भी वह उसी भावना से प्रेरित होकर काम कर रहे थे।

द्याकोव का जन्म १७ फरवरी १८९६ में उस तेवर सूबे में हुआ था, जिसमें हिन्दुस्तान आने वाले प्रसिद्ध पर्यटक अफनासी निकितिन पैदा हुआ था। उनके पिता अपनी बस्ती में अच्छे चिकित्सक के रूप में ही नहीं, बल्कि क्रांतिकारी विचारों के लिए विख्यात थे। उन्हें कई बार जेल काटनी पड़ी। सारा परिवार ही उग्र भावनाओंवाला था। उनके बाबा नामी रूसी क्रांतिकारी बाकूनिन के भतीजे थे। परिवार की परम्परा का असर द्याकोव पर भी पड़ा।

मास्को विश्वविद्यालय के मेडीकल विभाग से स्नातक होने के बाद उन्हें मध्य एशिया भेजा गया। वह पहले डाक्टर थे, जो प्रतिक्रांतिकारियों से सोवियत जनतंत्र की रक्षा करने की बजाय सोवियत भूमि के सुदूर भाग में भांति-भांति के भयंकर रोगों से जूझने के लिए गये थे। ताशकंद के छोटे-से गांव ताइत्यूबे के निवासियों की तथा बाद में पामीर इलाके के गरीब देहकानों की बीमारियों एवं गरीबी से हिफाजत की।

हिन्दुस्तान की ओर उनका ध्यान आकर्षित होने की बड़ी दिलचस्प कहानी है। मध्य एशिया में होरोग जाते हुए उन्हें कुछ भारतीय मिले, जिन्होंने बताया कि हिन्दुस्तान की सीमा वहां से कुल दस मील की दूरी पर है। द्याकोव की इच्छा हुई कि वह हिन्दुस्तान का अध्ययन करें। वहीं पर उन्होंने फारसी, अरबी और बाद में उर्दू सीखी। वह हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास में दिलचस्पी लेने लगे और आगे चलकर वह उनका प्रमुख विषय बन गया।

मध्य एशिया में उनके दस साल बीते। इस अरसे में उन्होंने बीमारी से लड़ने में ही लोगों की मदद नहीं की, बल्कि सामाजिक बुराइयों का भी मुकाबला करने में सहायता की। सन् १६१६ में वह बोल्शेविक पार्टी में शामिल हो गये और तब से लगातार उस पार्टी के विचारों को फैलाते रहे।

सन १६३४ में जब वह मास्को आ गये तो वह पूरी तरह पूर्वी भाषाओं और इतिहास के अध्ययन में लग गये। उर्दू, हिन्दी तथा अनेक यूरोपियन भाषाओं के ज्ञाता होने के कारण हिन्दुस्तान के इतिहास में शोध करने में उन्हें सुविधा हुई। सन १६४० में द्याकोव ने डाक्टर की उपाधि के लिए अपना शोध-प्रबंध तैयार किया। उनके अनुसंधान का मुख्य विषय था हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय प्रश्न, जिसके बारे में उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि नेशनल क्वश्चन एण्ड ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म इन इंडिया' में विस्तार से विचार किया है।

मैंने उनका और अधिक समय लेना उचित न समझकर विदा लेने की दृष्टि से कहा, "मैं कामना करूंगा कि आप चिरायु हों और स्वस्थ रहें, जिससे इतिहास द्वारा रूस और भारत की व्याख्या करके आप दोनों देशों के बीच एक मजबूत कड़ी बन सकें। आपका कार्य निस्संदेह सेतुबन्ध के निर्माण का है। आपके देश ने भारत के सर्वमान्य ग्रंथ—'रामचरित मानस' तथा 'महाभारत' के रूसी भाषा में अनूदित करके दोनों देशों को एक-दूसरे के निकट लाने के लिए एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है। पर गांधीजी के बिना भारत को नहीं जानाजा सकता। अच्छा हो कि आप लोग मास्को में एक गांधी-संग्रहालय स्थापित कर दें और उसमें गांधीजी तथा उनकी विचार-धारा से सम्बन्धित साहित्य रक्खें।"

उन्होंने बड़े ध्यान से मेरी बात सुनी। बोले, "भारत का बहुत-सा साहित्य यहां प्रकाशित हुआ है और हो रहा है। नेहरू की 'आत्म-कथा' तथा 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' के अनुवाद निकले हैं।"

"गांधीजी की कुछ पुस्तकों का भी अनुवाद कराइये।"

वह बोले, "गांधीजी की 'आत्मकथा' का अनुवाद हुआ है। उल्यानोवस्की ने किया है। द्वितीय महायुद्ध के पहले निकला था। अब प्राप्य नहीं है। नया संस्करण निकालने का विचार हो रहा है।"

उनके छोटे-से कमरे में सात पिंजड़े लगे थे, जिनमें विभिन्न प्रकार की सात चिड़ियां थीं। चलते-चलते मैंने पूछा, "आपको चिड़ियां पालने का शौक है?"

बोले, "जी हां, कोई नौ साल से यह शौक चल रहा है। मैंने पक्षियों के संबंध में बहुत पढ़ा है। भारत से भी इस विषय की बहुत-सी पुस्तकें लाया था।"

"आपने इन्हें अलग-अलग क्यों रक्खा है?"

मेरे इस सवाल पर वह मुस्करा उठे। बोले, "इसलिए कि साथ-साथ रहने पर ये लड़ती हैं और प्यार से एक-दूसरे से नहीं बोलतीं। फिर यह भी तो है कि आदमी की तरह इनको भी अलग-अलग फ्लैट में रहना पसंद है, भले ही फ्लैट छोटा-सा ही क्यों न हो?"

मैंने विनोद में पूछा, "ये बोलती हैं?"

वह हंसकर बोले, "जी हां, खूब बात करती हैं। बातचीत में आपने उनकी बात सुनी नहीं। वे बराबर अपनी बात कह रही थीं।"

विनोद को जारी रखते हुए मैंने कहा, "ये कौन-सी भाषा बोलती हैं? रूसी?"

वह जोर से हँस पड़े। बोले, "नहीं, रूसी नहीं बोलतीं, उनकी अपनी भाषा है, पर मैं उसे समझ लेता हूं।

द्याकोव को पक्षियों से बेहद प्यार था। यह प्यार उनमें मध्य एशिया में पैदा हुआ। जब वह पहली बार ताशकंद गये तो एक दिन तड़के उठने पर उन्होंने देखा कि सूरज उग आया है और उनके कमरे में तरह-तरह के पक्षियों का कलरव हो रहा है। बस, उसी दिन से उन्होंने पक्षियों के बारे में खूब अध्ययन किया। किस पक्षी का क्या नाम है, वह कहां से आता है,

उसके स्वभाव की क्या विशेषता है, इसकी उनकी जैसी जानकारी वहुत कम लोगों की है।

६१ वर्ष के उन युवा से मैंने विदा ली। वह द्वार तक पहुंचाने आये और हाथ मिलाते हुए बोले, "नमस्कार! फिर आइए।"

मैंने कहा, "अव आपकी वारी है। आप भारत आइए और देखिए कि उसने कितनी उन्नति की है। जरूर आइए। वड़ी खुशी होगी।"

मैंने देखा, उनके चेहरे पर युवकोचित उत्साह खेल रहा था और आत्मीयता से उनकी आंखें चमक रही थीं। ○

१०

भारत-थाई संस्कृति की एक कड़ी

भारत और थाईलैण्ड के बीच साहित्य एवं संस्कृति के सेतु-निर्माता पं० रघुनाथ शर्मा का ४ अक्तूबर १९६९ को देहान्त हो गया। उनका मद्रास से, जहां वह अपनी चिकित्सा कराने के लिए आए हुए थे, पत्र मिला था कि अब उनकी सेहत ठीक है, वह घूमने-फिरने लगे हैं और आशा करते हैं कि शीघ्र ही बैंकाक लौट जायंगे। पर मनुष्य सोचता कुछ है, हो कुछ और ही जाता है। अकस्मात् उनके हृदय की गति रुक गई और थाईलैण्ड तथा भारत में वह अपने कुटुम्बियों तथा मित्रों के विशाल परिवार से सदा के लिए बिछुड़ गए।

उनके निधन से भारत तथा थाईलैण्ड की कितनी क्षति हुई है, इसकी सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती। बहुत वर्ष पहले अपने एक मित्र से उनका नाम सुना था और यह भी पता चला था कि भारत तथा थाईलैण्ड को एक सूत्र में बांधने के लिए जो कार्य इस एक व्यक्ति ने किया है, उसे बड़ी-से-बड़ी संस्था भी नहीं कर सकती थी। बाद में दो बार थाईलैण्ड जाने का मुझे सुअवसर मिला और दोनों ही बार मैं शर्माजी का अतिथि बना। उनसे पहली भेंट में ही लगा, जैसे हम एक-दूसरे के वर्षों से मित्र हों। मैं और मेरे साथी श्री विष्णु प्रभाकर वहां पहुंचने के क्षण-भर बाद ही उनके परिवार के अंग बन गए। वह परिवार छोटा नहीं था, न भारतीय समाज तक ही सीमित था। वहां के निवासी भाई-बहनें भी उनके प्रति उतनी ही गहरी आत्मीयता रखते थे, जितनी उनके अपने भाई-

बहन। उनके हृदय में सबके लिए प्रेम था और उनका द्वार सबके लिए हमेशा खुला रहता था।

शर्माजी का चित्र आज भी मेरी आंखों के सामने है। लम्बा कद, गौर वर्ण, सिर पर गांधी टोपी, शरीर पर लम्बी अचकन और छोटी मोहरी का पाजामा। देखने में चेहरा कुछ रूखा-सा लगता था, पर हृदय उनका उतना ही तरल था। पहली बार हम लोग केवल दो दिन वहां ठहरने के विचार से गए थे, लेकिन शर्माजी को उससे कहां संतोष होने वाला था! आगे का सारा कार्यक्रम बदल गया, तार दिए और सात दिन रोक कर न केवल वहां के दर्शनीय स्थल दिखाए, अपितु वहां के लोक-जीवन में व्याप्त भारतीय संस्कृति के भी दर्शन कराए। थाई इतिहास एवं संस्कृति के परम विद्वान् फाया अनुमान रचथौन से लम्बी बातचीत कराई और वहां के मंत्रिमण्डल के अध्यक्ष प्रिंस धानी निवात के साथ जो शाम बीती, उसकी स्मृति आज भी यथावत बनी है।

बैंकाक से पूर्व वहां की राजधानी अजुध्या थी, जो बैंकाक से ५६ मील की दूरी पर है। शर्माजी ने आग्रहपूर्वक हमें वहां भेजा। अशोक के दो धर्मदूत जिस नगर में पहली बार पहुंचे थे, उस नगर प्रथम (नाखौर प्राथाम) की यात्रा करवाई और समुद्र तट के प्राकृतिक दृश्यों को देखने के लिए बांगसेन अपने एक मित्र के साथ भिजवाया। कितनी सभाएं कराईं, उनकी गिनती करना कठिन है। शर्माजी की एक ही अभिलाषा थी और वह यह कि हम थाईलैण्ड के बाह्य रूप को ही नहीं, उसकी आत्मा को भी अच्छी तरह से देखें।

शर्माजी ने जिस संस्था को अपना जीवन समर्पित कर रखा था, वह थी 'थाई-भारत कल्चरल लाज।' रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से स्वामी सत्यानन्द पुरी नामक एक सुशिक्षित युवक बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर सन् १९३२ में थाईलैण्ड गए थे। वहां पहुंचकर उन्होंने कुछ ही दिनों में न केवल थाई भाषा सीखी, बल्कि अपनी साहित्यिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से थाईलैण्ड के लोगों के हृदय में अच्छा स्थान बना

लिया। उन्होंने प्राच्य संस्कृति के प्रसार के लिए 'धर्माश्रम' नाम की एक संस्था स्थापित की। यही संस्था आगे चलकर सन् १९४० में 'थाई-भारत कल्चरल लाज' के रूप में विकसित हुई।

स्वामीजी ने 'वाइस आफ दी ईस्ट' नामक पत्र निकाला और अंग्रेजी-थाई तथा संस्कृत भाषा में अनेक पुस्तकों की रचना की। थाई रामायण के आधार पर उन्होंने रामकथा लिखी, जो 'राम-कीर्ति' के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली द्वारा हिन्दी में प्रकाशित हुई है। थाई भाषा की पुस्तकों में गांधीजी की जीवनी, तर्क-सिद्धान्त, प्राच्य-दर्शन आदि कृतियां बड़ी लोकप्रिय हुईं।

३ मार्च १९४२ को जापानियों के निमंत्रण पर स्वामीजी सिंगापुर गए। वहां से टोकियो जाते हुए २४ मार्च को विमान-दुर्घटना में उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

शर्माजी स्वामी सत्यानन्द पुरी के सहयोगी थे। स्वामीजी के स्वर्गवास के उपरान्त उन्होंने उस संस्था की प्रगति के लिए खून-पसीना एक कर दिया। शर्माजी पंजाब के निवासी थे, लेकिन थाईलैंण्ड पहुंचने के बाद वह वहां के लोक-जीवन के साथ ओत-प्रोत हो गए। वह कपड़े का व्यवसाय करते थे, लेकिन परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए भी उन्होंने अपने अधिकांश साधनों का उपयोग संस्था की अभिवृद्धि के लिए किया। बड़ा उथल-पुथल का समय था वह ! युद्ध के दिनों में मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं ने संस्था के पुस्तकालय में आग लगा दी, अन्य वस्तुएं लूट लीं, लेकिन शर्माजी तनिक भी हतोत्साहित नहीं हुए। स्वामीजी की स्मृति में उन्होंने 'लाज' के साथ 'स्वामी सत्यानन्द पुरी फाउण्डेशन लाइब्रेरी' जोड़ दी और इस प्रकार उस संस्था की प्रवृत्तियों को और भी व्यापक बना दिया।

३१ मई १९४५ को जब नेताजी सुभाष चन्द्र बोस इस संस्था को देखने आए तो पुस्तकों के विपुल संग्रह को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने संस्था को एक लाख टिकल की सहायता प्रदान की।

सन् १६४६ से संस्था का विकास बड़ी तेजी से हुआ। आज उसका अपना भवन है। उसके द्वारा थाई, संस्कृत और हिन्दी के वर्ग चलते हैं। पुस्तकालय से पाठक बड़ी संख्या में लाभ उठाते हैं। भारतीय इतिहास तथा संस्कृति पर थाई में और थाई इतिहास एवं संस्कृति पर हिन्दी में पुस्तकें निकली हैं। इस सबके साथ ही थाईलैण्ड तथा भारत के विद्वानों के स्वागत-सत्कार कराने और थाई भाषा में प्रयुक्त संस्कृत एवं हिन्दी के शब्दों का संग्रह कराने की दिशा में जो कार्य हुआ है और हो रहा है, वह वास्तव में अभिनन्दनीय है।

स्वामीजी द्वारा रोपे गये पौधे को यदि विशाल वृक्ष का रूप मिल सका तो इसका श्रेय सोलहो आने शर्माजी को है। उन्होंने अपनी प्रवृत्तियों को साहित्य, संस्कृति तथा कला तक सीमित रखा और राजनीति का कभी स्पर्श नहीं होने दिया। थाई विद्वानों का उन्होंने संस्था के लिए सक्रिय सहयोग प्राप्त किया। शर्माजी की जन्म-भूमि भारत थी। उसे वह कभी नहीं भूले। भारतीय नेताओं की जयन्तियां बड़े उत्साह से मनाते थे। भारतीय पर्वों के प्रति गहन निष्ठा रखते थे। लेकिन उतनी ही आत्मीयता उनकी थाई भूमि के महापुरुषों तथा थाई पर्वों के लिए थी। हम बिना अतिशयोक्ति के कह सकते हैं कि शर्माजी थाई और भारतीय संस्कृति के राजदूत थे।

हम लोग जितने दिन उनके साथ रहे, उन्हें निरन्तर यह चिन्तन करते करते पाया कि 'लाज' का अभ्युदय किस प्रकार हो, उसकी सेवाओं का क्षेत्र किस प्रकार और अधिक विस्तृत बने। पूर्वी एशिया का कोई भी देश ऐसा नहीं था, जहां शर्माजी के नाम और उनके काम की कीर्ति न पहुंची हो।

दूसरी बार जब मैं बैंकांक गया तो शर्माजी वहां नहीं थे, भारत आए हुए थे। लेकिन फीजी से भेजा मेरा पत्र उन्हें मिल गया था और जब मैं बैंकाक के हवाई अड्डे पर उतरा तो उनके एक सहयोगी वहां उपस्थित थे। उनकी सेवाभावी धर्मपत्नी वहीं थीं। वही प्रेम, वही आत्मीयता, वही आतिथ्य। भारत रवाना होने से पहले शर्माजी पूरी सूचनाएं दे गए थे,

यहां तक कि भारतीय समाज की सभा करने के लिए भी सारा प्रबन्ध कर गए थे।

शर्माजी पिछले वर्षों में दो-तीन वार भारत आए। हर वार उन्होंने दिल्ली का कार्यक्रम रखा और हम लोगों ने कई-कई घंटे साथ विताए। एक वार 'हिन्दी भवन' में जब हमने उनका स्वागत किया तो मुझे याद है, उन्होंने सवसे अधिक वल इस वात पर दिया था कि भारत के कुछ विद्वान लम्बे अर्से के लिए थाईलैण्ड जायं और थाईलैण्ड से यहां आएं। वह कुछ ऐसे कार्यकर्ता भी चाहते थे, जो वहां जाकर स्थायी रूप से रहें, थाई भाषा सीखें और समर्पित भाव से वहां की भूमि की और जनता की सेवा करें। इसके लिए किराया-भाड़ा भी देने के लिए तैयार थे। एक व्यक्ति पर उन्होंने काफी खर्च किया भी; लेकिन परिणाम अनुकूल नहीं निकला और उस सज्जन को उन्हें वापस भेजना पड़ा।

भारत और थाईलैण्ड के बीच बड़े पुराने और घनिष्ठ संवंध रहे हैं। भारतीय संस्कृति ने उन्हें वड़ी मजबूती से आपस में बांध रखा है। डॉ० वासुदेवशरण ने ठीक ही लिखा है, "जिस प्रकार गंगाऔर यमुना का जल स्वाभाविक रीति से मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति की धारा स्थानीय संस्कृति के साथ सर्वथा मिल गई, अथवा मेघ-जल के समान वह स्याम (थाईलैंण्ड) और कम्वुज (कम्वोडिया) की संस्कृति के क्षेत्र में बरस पड़ी। उसके स्वाति जल से स्थानीय शुक्तियां निर्मल मुक्ताओं से भर गईं। इन्हीं उज्ज्वल मोतियों के दर्शन स्याम और कम्वुज आदि देशों के प्राचीन सांस्कृतिक चिह्नों में मिलते हैं। किन्तु भारत के उस अमृत-वर्षण का वरदान देश और काल में समाप्त नहीं हो गया। उसमें आज भी जीवन का उमगता हुआ रस भरा है। प्राचीन भारतवासी सांस्कृतिक मेघ-वर्षण की कला में अत्यन्त प्रवीण थे। उन्होंने चारों ओर के पड़ोसी देशों को उस अमृत-प्रोक्षण से पवित्र कर दिया। भगवान राम के आर्य चरित्र और भगवान बुद्ध के उदात्त धर्म के जो प्रदीप पन्द्रह शती पूर्व इन देशों में प्रज्ज्वलित हुए, वे आज भी प्रकाशित हैं।"

इस आलोक को सुरक्षित रखना तथा उसे और अधिक प्रखर करना राजनैतिक उपलब्धियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है ।

शर्माजी की साधना निस्संदेह अद्‌भुत थी। उनकी लगन, उनकी निष्ठा और उनकी परिश्रम-शीलता का स्मरण करके आज भी रोमांच हो आता है।

आवश्यकता इस बात की है कि वर्षों तक उन्होंने जिस वृक्ष को दिन-रात सींचा वह सदा लहलहाता रहे।○

११ |

'रामचरित मानस' के उपासक

सन् १९५६ के दिनों में एक विदेशी युवक से परिचय हुआ। परिचय करातेहुए मेरे मित्र ने कहा, "यह भाई वारान्निकोवहैं, भारत-स्थित सोवियत दूतावास के सांस्कृतिक सलाहकार। इनके दिल में भारत के लिए बड़ी आत्मीयता है। आप देखेंगे कि भारतीयसंस्कृति और हिन्दी के लिए इन्होंने अपना जीवन ही समर्पित कर रखा है।"

उस तरुण से मिलकर मुझे अच्छा लगा और आज जब मैं पीछे के १९ साल के उनके साथ के संसर्ग और सम्पर्क का स्मरण करता हूं तो मेरा हृदय रोमांचित हो उठता है। ऐसे व्यक्ति मैंने बहुत कम देखे हैं, जो अपने देश के समानदूसरे देश को प्यार करें और प्योतर अलिक्सेंयेविच वारान्निकोव उन्हीं इने-गिने लोगों में से हैं।

अपने पहले ही परिचय में मैंने सहज भाव से उनसे पूछ लिया था, "वारान्निकोवजी, यह तो बताइये कि हिन्दी के लिए आपके अन्दर इतना प्रेम किस तरह पैदा हुआ ?"

बड़ी सरलता से उन्होंने उत्तर दिया,"इसका मुख्य कारण पारिवारिक है !"

"पारिवारिक ?" मैंने किंचित विस्मय और कुतूहल से पूछा।

"जी हां, पारिवारिक। मेरे पूज्य पिताजी अकादमीशियन अलिक्सें पित्रोविच वारान्निकोव का नाम आपने सुना होगा। वह भारत के प्रति गहरा अनुराग रखते थे। उन्होंने 'रामचरित-मानस' का रूसी भाषा में

अनुवाद किया और उसके द्वारा भारतीय आत्मा का परिचय उन्होंने हमारे देशवासियों को कराया।"

उनके इस कथन ने मेरा ध्यान उस महापुरुष की ओरआकर्षित किया, जिसने एक-दूसरे से हजारों मील की दूरी पर बसे दो देशों के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संबंधों को अधिकाधिक मजबूत करने के लिए इतना बड़ा कदम उठाया। 'रामचरितमानस' और 'महाभारत' हमारे देश की ऐसी महान कृतियां हैं, जिनके अध्ययन के बिना भारतीय आत्मा के दर्शन नहीं हो सकते। उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से लेकर पश्चिम तक शायद ही कोई ऐसा घर होगा, जिसमें राम और कृष्ण की भक्ति की धारा प्रवाहित न होती हो। प्रो० वारान्निकोव राम-भक्ति की धारा को अपने देश में ले गये और इस प्रकार उभय देशों के बीच अटूट सम्बन्ध स्थापित किये। लेनिनग्राड से ४४ किलोमीटर के फासले पर कोमारोवो नामक उपवन में उनकी समाधि पर 'रामचरित-मानस' की यह चौपाई उत्कीर्ण है :

भलो भलाई पै लहहिं, लहै निचाई नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच॥

२

अ० पि० वारान्निकोव का जन्म २१ मार्च १८९० को यूक्रेन के एक छोटे से कस्बे जोलोतोनोशा में हुआ था। उनके पिता मामूली बढ़ई का काम करते थे। वारान्निकोव को बचपन से ही अपनी आजीविका के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ा। गरीबी इतनी थी कि मुश्किल से तीन साल पढ़ाई करने के बाद उन्हें स्कूल छोड़ देना पड़ा। उनके परिवार को खाने तकके लालेपड़े थे। लेकिन ज्ञानके प्रति उनके दिल में बड़ी प्यास थी। वह विद्या-व्यसनी थे। वह स्वतंत्र रूप से अध्ययन करते रहे और सन् १९१० में उन्होंने एंट्रेंस की परीक्षा पास कर ली। उनकी इच्छा आगे पढ़ने की थी, पर उसके लिए साधन कहां थे? उन्हें काम की खोज में इधर-से-उधर

चक्कर लगाने पड़े। अंत में उन्हें अध्यापक की नौकरी मिली और वह विश्वविद्यालय में दाखिल हो गये। वहां उन्होंने स्लाविक भाषा के साथ लेटिन फ्रेंच, जर्मन, इटालियन, पहलवी, संस्कृत, हिंदी, उर्दू आदि भाषाओं तथा भारत की अनेक बोलियों का अध्ययन किया और सफलतापूर्वक विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी की। वह बड़े मेधावी थे। उनके शोध 'दि ओरिजिन ऑफ दि स्लाविक, लेटिन एण्ड जर्मन लैंग्वेजेज़' (स्लाविक, लेटिन और जर्मन भाषाओं का उद्भव) पर उन्हें स्वर्ण पदक, एम० ए० की उपाधि और छात्रवृत्ति मिली।

इसके बाद तो वारान्निकोव के लिए पांडित्य के द्वार खुल गये और वह संस्कृत, ग्रीक और लेटिन भाषाओं और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के गहन अध्ययन में संलग्न हो गये।

स्नातक होने के पश्चात् समारा (अब क्यूवीशेव) नगर के विश्वविद्यालय में उन्हें नौकरी मिल गई और वहां उन्होंने चार वर्ष तक तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के प्रोफेसर के रूप में कार्य किया। सन् १९२१ में वह अपने शोध-प्रबंध पर आगे काम करने के लिए जुट गये। ३२ वर्ष तक उनका वह शोध-कार्य चलता रहा। इस अवधि में उन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना की। उनका हिन्दुस्तानी (उर्दू-हिन्दी) व्याकरण, रूसी भाषा की एक अनूठी पुस्तक है। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा के क्रिया-पदों और रूसी भाषा में उन्हीं भावों के पर्यायवाची शब्दों पर भी एक कोश तैयार किया। इतना ही नही, उन्होंने लल्लूलाल के 'प्रेम सागर' का रूसी भाषा में सन् १९३७ में अनुवाद किया।

लेकिन उनका ऐतिहासिक कार्य था 'रामचरित-मानस' का रूसी में रूपान्तर। उन्होंने इस महाकाव्य का दस वर्ष तक गहन अध्ययन करके उसका रूसी गद्य में अनुवाद किया, पर इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। तब उन्होंने रूसी पद्य मेउसका अनुवाद किया औरउन्हीं छंदों का प्रयोग किया, जिनमें मूल ग्रंथ की रचना हुई थी, अर्थात् चौपाइयों का चौपाइयों में, दोहों का दोहों में, सोरठों का सोरठों में, आदि-आदि। यह सामान्य काम

नहीं था। 'रामचरित-मानस' की चौपाइयों इत्यादि के दुरूह अर्थों को समझना आसान नहीं है। उसके लिए भाषा के ज्ञान के साथ भारतीय संस्कृति का सूक्ष्म परिचय भी आवश्यक है। वारान्निकोव की यह एक ऐसी साधना थी, जिसे विरले ही कर सकते थे। यह ग्रंथ सन् १९४८ में प्रकाशित हुआ। सोवियत संघ में वह आधुनिक भारतीय भाषाओं, भारतीय साहित्य के इतिहास तथा भारतीय धर्मों के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में अग्रगामी थे। इन क्षेत्रों में उन्होंने लगभग २०० पुस्तकें लिखीं।

लेनिनग्राड विश्वविद्यालय के अतिरिक्त उन्होंने वहां के ओरियंटल इंस्टीट्यूट' में भी कार्य किया और तत्पश्चात् 'अकादमी आफ साइंसेस' के डाइरेक्टर नियुक्त हुए। कई वर्ष तक वह लेनिनग्राड नगरपालिका के सदस्य रहे। सन् १९४५ में उन्हें लेनिन-पदक प्रदान किया गया।

वारान्निकोव केवल सुयोग्य अनुवादक ही नहीं थे, वल्कि मौलिक पुस्तकों के रचयिता भी थे। सोवियत संघ में बसने वाली सिगानी जाति के जिप्सी कुल—जिसके विषय में संसार के नृवंश-विदों की मान्यता है कि वे मूलतः भारतीयों की संतान हैं, संबंध में गहन अध्ययन किया। वह उनके साथ घूमे, उनके लोक-गीतों और उनकी बोलियों के बारे में अन्वेषण किया। वे लोग अपनी भाषा में उन्हें 'वड़ो मानुष' कहा करते थे और उनके प्रति अपार प्रेम और अटूट मान-सम्मान की भावना रखते थे।

३

बुद्धिजीवी लोग प्रायः अपने में ही लीन रहते हैं, लेकिन प्रो० वारान्निकोव के साथ ऐसी बात नहीं थी। वह अपने परिवार के प्रति बड़ा वात्सल्य रखते थे। घूमने का उन्हें बेहद शौक था। वह जब कभी बाहर जाते थे, अपने बच्चों को साथ ले जाते थे। एक बार वह जंगल में घूमते हुए बहुत दूर निकल गये। साथ में उनके लड़के प० अ० वारान्निकोव भी थे, जिनकी उम्र उस समय बारह वर्ष की थी। संयोग से लड़के को सांप ने काट लिया। लेकिन बारान्निकोव तनिक भी परेशान न हुए, अपने

बेटे को कंधे पर रखकर वह तीस मील चले, बीच में एक नदी भी उन्हें पार करनी पड़ी। तब जाकर वह अपने नगर में पहुंचे। सौभाग्य से लड़के की जान बच गई। लेनिनग्राड की नीवा नदी के तीन पुलों की तो वे प्रायः सैर किया करते थे। उनके घर पर उनके शिष्य बराबर आते रहते थे। प्रो० कल्यानोव सप्ताह में तीन-चार बार चक्कर लगा जाते थे।

उनके प्रिय कार्यों में एक कार्य कुत्ते पालना भी था। उनका एक कुत्ता था ट्विस्ट, जिसका नाम उन्होंने 'आनन्द' रखा था। कल्यानोव जब आते थे तो इस कुत्ते के सामने जाकर कूं-कूं करते थे। कुत्ता भी उसे सुनकर कूं-कूं करने लगता और इस प्रकार उन दोनों के संगीत का उपक्रम बहुत देर तक चलता था। बिल्ली-बिलौटे भी बारान्निकोव को बड़े प्रिय थे। एक बिल्ली का नाम उन्होंने 'श्यामानासिका' रखा था, क्योंकि उसकी नाक काली थी और एक बिलौटा देखने में बड़ा अच्छा था, अतः उसका नाम 'सुन्दर' रखा।

... ...

स्वाभाविक था कि भारत ऐसे पुण्य-पुरुष के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अपना सम्मानित सदस्य बनाया। सभा के साथ-साथ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग तथा हिन्दी भवन, नई दिल्ली में आज भी उनकी अनेक कृतियां तथा चित्र उपलब्ध हैं।

४ दिसम्बर १९५२ को बारान्निकोव का देहान्त हो गया। भारत आने की उनकी बड़ी इच्छा थी। वह पूरी नहीं हो सकी। शरीर से वह आ पाते तो निश्चय ही उन्हें और हम भारत-वासियों को बड़ी प्रसन्नता होती, लेकिन उनके लिए यह भी कम संतोष की बात नहीं थी कि मन उनका सदैव भारत में रहा।○

१२

महाभारत के यशस्वी अनुवादक

मास्को में मेरे मित्रों ने मुझसे बड़ा आग्रह किया था कि लेनिनग्राड में दो चीजें जरूर देखना। एक तो हरमिताज, दूसरी ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट (प्राच्य संस्थान) हरमिताज देख चुकने के वाद मैंने ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट को देखने की व्यवस्था करने के लिए होटल के सूचना-विभाग से कहा। उन्होंने अधिकारियों को फोन करके समय निश्चित करा दिया। दुभाषिया वेलन्टीना के साथ कार से मैं वहां पहुंचा। इन्स्टीट्यूट हरमिताज के निकट ही है। अन्दर सूचना भिजवाने पर थोड़ी देर में एक युवक बाहर आये और भारतीय पद्धति से हाथ जोड़कर अभिवादन करते हुए बोले, "नमस्कार, यशपालजी। आइये। मेरा नाम जो ग्राफ है। मुझे बड़ी खुशी है कि आप हमारे यहां पधारे।"

युवक ने यह सब हिन्दी मेंकहा। मैंनेदेखाकि उनका न केवल उच्चारण ही साफ और शुद्ध है, अपितु उनके बोलने में आत्म-विश्वास भी है। मैंने प्रत्युत्तर में नमस्कार करते हुए कहा, ''आप तो हिन्दी खूब बोल लेते हैं !

उनके चेहरे पर मुस्कराहट दौड़ गई। बोले, "जी हां, थोड़ी-थोड़ी बोल तो लेता हूं, पर हिन्दी से ज्यादा उर्दू बोलने का मुझे अभ्यास है।"

बात करते हुए हम लोग अन्दर पहुंचे। एक वड़ा-सा हॉल था, जिसमें थोड़े-थोड़े फासले पर कई मेजें और उनके इर्द-इर्द कुर्सियां पड़ी थीं। जोग्राफ मुझे और वेलन्टीना को अपनी मेज पर ले गये और बड़े आदर से बिठाते हुए बोले, "आपको शायद पता हो कि इस संस्था में भारतीय

भाषाओं का काम होता है। हम सब इसी हाल में बैठते हैं। पर इस संस्था का जो रूप आज हम देखते हैं, वह पहले नहीं था। इसकी स्थापना सन् १८१८ में पूर्वी देशों की पांडुलिपियों के संग्रहालय (म्यूजियम ऑफ ओरियण्टल मैनसक्रिप्ट्स) के रूप में हुई थी और शुरू में सिर्फ़ अरबी और फारसी की पांडुलिपियां इकट्ठी की गई थीं। इस समय उनकी संख्या कोई छः-सात सौ होगी।"

"लेकिन यह तो संस्कृत के अध्ययन का भी एक महान केन्द्र है।" मैंने कहा।

"जी हां, आगे चलकर संस्कृत को भी शामिल कर लिया गया। आज आपको यहां संस्कृत के अनेक दुर्लभ ग्रन्थ मिल जायंगे।"

इतना कहकर वह उठे और उन्होंने संस्कृत-जर्मन-कोश की सात जिल्दें लाकर मेरे सामने रख दीं। बोले,"संस्कृत को शामिल करने के बाद उसका बहुत-सा साहित्य इकट्ठा किया गया। सन् १९३४ में काम का और विस्तार हुआ। हिन्दी, उर्दू, बंगला, पंजाबी, मराठी, तेलगु आदि भाषाओं का भी काम हाथ में लिया गया। संस्कृत और पाली का चल ही रहा था। आपने अकादमीशियन ए० पी० बारान्निकोव का नाम सुना होगा। भारत की आधुनिक भाषाओं के विभाग के वह संस्थापक थे।"

मैंने कहा, "उनके सुपुत्र पी० ए० बारान्निकोव से अनेक बार भेंट हुई है। वह मेरे अच्छे मित्र हैं। सचमुच प्रो० बारान्निकोव बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। 'रामचरितमानस' का रूसी में पद्यानुवाद करके उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता दिखाई।"

जोग्राफ बोले, "आपने यहां से प्रकाशित हिन्दी-रूसी-शब्दकोष तथा उर्दू-रूसी-शब्दकोश तो देखे होंगे?"

दो मोटी-मोटी जिल्दें मेरे सम्मुख रखते हुए वह बोले, "इनका निर्माण भी उन्होंने किया था। सम्पादन प्रो० बेस्क्रोवनी ने किया। और यह देखिए, उर्दू के लेखक मीर अम्मान के 'बाग-बहार' का रूसी अनुवाद। यह अभी-अभी निकला है।"

"इसका अनुवाद किसने किया है ?"

"मैंने ।"

उनकी मेज पर 'ग्रंथ-साहव' की प्रति खुली हुई रक्खी थी। उसकी ओर संकेत करते हुए मैंने पूछा, "आप पंजाबी भी जानते हैं ?"

वड़ी विनम्रता से उन्होंने उत्तर दिया, "जी, मैं अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, मराठी और पंजाबी, ये भाषाएं जानता हूं। रूसी तो मेरी मातृभाषा है ही, अव मैं अनुवाद करने के लिए 'ग्रन्थ-साहव' का अध्ययन कर रहा हूं।"

मैं जो ग्राफ के चेहरे की ओर देखता रह गया। कितनी भाषाएं उस युवक ने सीख ली थीं ! सीख ही नहीं लीं, उनमें इतनी दक्षता भी प्राप्त कर ली कि मूल भाषा के ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद कर सकें !"

यह सब सोच ही रहा था कि इतने में एक सज्जन आये। कद उनका मझौला था। सूट पहने हुए थे। असाधारण स्फूर्ति थी उनमें। चेहरे के गाम्भीर्य से लगता था कि वह कोई विद्वान् पुरुष हैं। जोग्राफ ने खड़े होकर उनका स्वागत किया और परिचय कराते हुए बोले, "आप प्रोफ़ेसर वी० आई० कल्यानोव हैं।"

उनका विस्तृत परिचय मुझे मास्को में मिल चुका था। यह भी बताया गया था कि वह बड़ी सुन्दर संस्कृत लिखते हैं और धाराप्रवाह बोलते हैं। मैंने उन्हें नमस्कार किया और कहा, "यहां आते ही मैंने आपके विषय में पूछा था, लेकिन मालूम हुआ कि आज छुट्टी है। आप विश्वविद्यायय में नहीं होंगे औरयहां भी आने की सम्भावना नहीं है। श्री जोग्राफ ने बताया कि घर पर छुट्टी के दिन भला आप कहां मिलेंगे ! मैं तो निराश हो गया था। अकस्मात आपके दर्शन से मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ।"

पास ही एक कुर्सी पर वह बैठ गये। मुझे मालूम था कि वह महाभारत के 'आदि पर्व' का अनुवाद रूसी में कर चुके हैं, जो प्रकाशित हो गया है और अब वह 'सभापर्व' का अनुवाद प्रारम्भ करनेवाले हैं। बैठने पर इधर-उधर की चर्चा के बीच मैंने उनसे पूछा, "आपको महाभारत का का अनुवाद करने की प्रेरणा क्यों हुई ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "इसलिए कि वह भारतीय संस्कृति का विश्व-कोश है।"

ये शब्द उन्होंने इतनी आत्मीयता के कहे कि मुझे मास्को में कही यह बात याद आ गई, "कल्यानोव भारतीय संस्कृति से इतने प्रभावित हैं कि उन्होंने अपना नाम बदलकर 'कल्याणमित्र' रख लिया है।"

"आप तो भारत हो आये हैं ?" मैंने आगे पूछा।

"जी हां, मैं भारत हो आया हूं और वहां काफी घूमा हूं। कलकत्ते में सुनीति कुमार चाटुर्ज्या से मिला। पूना में कई विद्वानों से भेंट हुई। मद्रास और बंगलौर भी गया था। दिल्ली तो जाना ही था। वहां अनेक व्यक्तियों से सम्पर्क हुआ, पर साहित्यकारों से अधिक मिलना-जुलना नहीं हो सका।"

मैंने कहा, "अब आप दिल्ली पधारिये। वहां के सभी साहित्यकारों से आपका परिचय हो जायगा।"

उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "लेकिन मैं कोई साहित्यकार थोड़े हूं।"

मैंने कहा, "आप साहित्यकार तो हैं ही, साथ ही आपने भारत और रूस दोनों देशों के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सेतु-निर्माण का भी कार्य किया है और कर रहे हैं। रामायण और महाभारत के रूसी-संस्करण उपलब्ध कराकर आप लोगों ने करोड़ों भारतवासियों के हृदय में अपना स्थान बना लिया है।"

इसके उपरान्त हम पुनः इन्स्टीट्यूट की प्रवृत्तियों की चर्चा करने लगे। जोग्राफ ने बताया कि बेस्कोवनी अब हिन्दी-साहित्य की चुनी हुई पुस्तकों का अनुवाद कर रहे हैं। उन्होंने प्रेमचन्दजी के 'प्रेमाश्रम' का अनुवाद किया है, और भी बहुत-सी किताबों का कर रहे हैं। सीनियर प्रो० वी० एस० वोरोब्योव-देस्यातोवस्की ने कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का अनुवाद किया है, जो अगले वर्ष के मध्य तक छप जायगा।"

उन्होंने बताया कि इस समय निम्नलिखित व्यक्ति भारतीय भाषाओं के कार्य में संलग्न हैं :

१. जी० ए० जोग्राफ (पंजाबी) २. कुमारी टी० कतेनिना (हिन्दी-मराठी) ३. एस० रूदिन (हिन्दी-वंगला-तेलगु) ४. वी० वालिन (हिन्दी-वंगला) ५. श्रीमती आर० होलेवा (हिन्दी-उर्दू) ६. कुमारी स्वेतेविदोवा (वंगला) ७. श्रीमती नोविकोवा (वंगला)—लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में भारतीय विभाग की अध्यक्ष भी यही हैं ८. एरमन (संस्कृत-पाली) ९. श्रीमती तॉल्स्ताया (पंजावी)।

जोग्राफ ने वताया कि इस कार्य को गति प्रदान करने में जिन तीन व्यक्तियों के नाम मुख्य रूप से लिये जा सकते है, वे हैं, १. स्व० प्रोफेसर बारान्निकोव २. प्रोफ़ेसर वेस्कोवनी और ३. प्रोफेसर कल्यानोव।

इसके उपरान्त विभागीय व्यक्तियों का परिचय कराने के लिए जोग्राफ ने उन सवको वुला लिया। जव वंगला-विभाग की संचालिका कुमारी स्वेतेविदोवा का परिचय कराया गया तो प्रो० कल्यानोव ने मुस्कराते हुए कहा, "इनके नाम का, जानते हैं, रूसी में क्या अर्थ है!"

मैंने कहा, "नहीं।"

वह हंसते हुए वोले, "उसका अर्थ है श्वेतदर्शन। क्यों, यदि इनका नाम श्वेतदर्शना रख दिया जाय तो कितना उपयुक्त होगा!" उनके इस विनोद में हम सवने वड़े आनन्द भाग लिया।

कल्यानोव ने वताया कि प्रोफेसर श्चरवेत्सिक ने, जो सोवियत संघ की 'एकादमी ऑफ साइंसेज' के सदस्य हैं, वौद्ध धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया है और तीन पुस्तकें लिखी हैं, जो 'थ्री सिस्टर्स' (तीन सहोदराएं) के नाम से विख्यात हैं और रूस में बहुत ही लोकप्रिय हैं, १. कन्सेप्ट ऑफ बुद्धिज्म। यह पुस्तक लंदन से सन् १९२३ में निकली, २. कन्सेप्ट ऑव बुद्धिस्ट निर्वाण (लेनिनग्राड से १९२७ में प्रकाशित), ३. बुद्धिस्ट लॉजिक (इसका पहला खंड सन् १९३० में और दूसरा १९३२ में लेनिनग्राड से निकला)।

कल्यानोव ने जव अपने प्रोफेसर का नाम लिया तो मैं उसे ठीक से समझ नहीं पाया। मैंने कहा, "इसे आप मेरी डायरी में लिख दीजिये।"

उन्होंने देवनागरी लिपि में बड़े सुन्दर और स्पष्ट अक्षरों में लिखा—"श्रीमदाचार्य श्चरबेत्सिक।" मैंने कहा, "श्रीमदाचार्य तो भारतीय संस्कृति का शब्द है।"

बोले, "अपने यहां के 'थियोडोर' के लिए मुझे यही शब्द उपयुक्त लगता है और मैं इसी का प्रयोग करना पसन्द करता हूं।"

काफी देर तक चर्चा करने के बाद हम लोग ऊपर की मंजिल में एक बड़े हॉल में गये, जहां शीशे की अलमारियों में संस्कृत, पाली, अरबी, तुर्की, पंजाबी, चीनी तथा अन्य अनेक भाषाओं की पांडुलिपियां रक्खी हुई थीं। उन्हें देखकर मुझे लगा कि ये लोग कितने जिज्ञासु और परिश्रमशील हैं कि दूर-दूर से प्राचीन पांडुलिपियों को लाकर एक मूल्यवान निधि अपने यहां संचित कर ली है।

प्रो० कल्यानोव ने बड़ी सावधानी से कई पांडुलिपियां निकालीं और मुझे दिखाईं। साथ ही वे पुस्तकें दिखाईं, जो विभिन्न भारतीय भाषाओं से रूसी में अनूदित होकर उनके यहां से प्रकाशित हुई थीं।

काफी समय हो गया था। मैंने इच्छा प्रकट की कि एक चित्र ले लूं। मौसम साफ नहीं था, पर मेरे मुंह से बात निकलते ही सब तैयार हो गये और सड़क की ओर के उस छज्जे पर जा खड़े हुए, जहां से कुछ ही कदम पर मंथर गति से बहती नीवा नदी की शोभा देखते ही बनती थी। चित्र खिंच जाने पर कल्यानोव बोले, "देखिये, कैसी संयोग की बात है। आपके देश से डा० रघुवीर जब यहां आये थे तो उन्होंने भी इसी स्थान से हम लोगों का चित्र खींचा था।"

पूछने पर जब मैंने बताया कि मैं उसी संध्या को मास्को जा रहा हूं तो कल्यानोव ने बड़ी हार्दिकता से कहा, "आपकी यात्रा शुभ हो और आप शतंजीवी हों!"

सब लोग मुझे दरवाजे तक छोड़ने आये और बड़े भावना-भरे हृदय से उन्होंने मुझे विदा किया।

हमारी सारी बातचीत हिन्दी में हुई थी। लौटते में वेलन्टीना कहने

लगी, "वाह, आज तो बड़ा मजा आया। मैं आपके साथ दुभाषिये का काम करने आई थी, लेकिन वह करना पड़ा आप लोगों को !"

असल में हुआ यह कि वेलन्टीना हिन्दी नहीं जानती थी इसलिए बीच-बीच में अपनी चर्चा का सार हमें उसे बताना पड़ा था। इसीकी ओर उसका संकेत था।

२

भारत लौट आने पर मेरा मन बार-बार प्रो० कल्यानोव की ओर दौड़ता रहा। महाभारत के अनुवाद के भारी काम को वही व्यक्ति हाथ में ले सकता था, जिसकी भारतीय आत्मा में गहरी निष्ठा हो। कल्यानोव के रोम-रोम से भारत के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति छलकती थी। महाभारत का अनुवाद उन्होंने सन् १९३९ में आरंभ किया था, जब कि वह स्नातक की पढ़ाई कर रहे थे। किसी ने उनसे पूछा, "क्या आप बता सकेंगे कि महाभारत के रूसी भाषा में अनुवाद का विचार आपके दिमाग में कैसे आया ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "सबसे पहले अकादमीशियन बारान्निकोव ने अनुवाद का सुझाव दिया। वह हमेशा इस बात पर जोर देते थे कि भारत की साहित्य-परम्परा का समग्र रूप में अध्ययन करो और देखो कि उसका विकास किस प्रकार महाभारत से लेकर अबतक होता आया है।"

अगला प्रश्न था, "हम मानते हैं कि भारत के महाकाव्य महाभारत का आपने जो अनुवाद किया है, वह संसार में सबसे पहला पूर्ण और प्रामाणिक अनुवाद है। क्या यह ठीक है ?"

इस सवाल का उन्होंने सीधा जवाब नहीं दिया। उसके इतिहास के कुछ पृष्ठ उनकी आंखों के आगे खुल गये। बोले, "जब हमारा संस्थान सन् १९४३ में, युद्ध के दौरान, ताशकंद ले जाया गया तो मुझे कुछ ही समय बाद हिन्दुस्तान से पूना के भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित महाभारत का संस्कृत पाठ मिला। बाद में उस संस्करण के और खण्ड मिले। तत्पश्चात् १९२७ से १९६६ के बीच उसके जो २२ भाग निकले

थे, उन्हें भारत सरकार ने सन् १९७० में भेंट-स्वरूप हमारे संस्थान को भेजा। पहले 'आदि पर्व' के बारह वर्ष बाद १९६२ में उस महाकाव्य का दूसरा पर्व 'सभापर्व' प्रकाशित हुआ। बात यह थी कि पहले पर्व का काम निबट जाने पर मैं कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अनुवाद में लग गया, लेकिन महाभारत तो हमेशा मेरा मुख्य काम रहा। सन् १९६७ में 'विराट-पर्व' निकला।"

इस चौथे पर्व के प्रकाशन पर उन्हें प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी का पत्र मिला, जिसमें उन्होंने भारत और सोवियत संघ के बीच साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के आदान-प्रदान में महान योगदान के लिए उन्हें बधाई दी। 'उद्योग-पर्व' का अनुवाद भारतीय गणतंत्र के पच्चीसवें महोत्सव की पूर्व संध्या में पाठकों को उपलब्ध हुआ।"

सन् १९७२-७३ के वर्ष के 'जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार'—विजेताओं में इस सोवियत भारतविद् का भी नाम था। कल्यानोव ने बड़ी कृतज्ञता से कहा, "यह पुरस्कार मेरी सेवाओं की महान स्वीकृति है। उससे मुझे नया उद्योग करने की प्रेरणा मिली है। इस समय मैं महाभारत के सातवें पर्व का अनुवाद कर रहा हूं। मैं इसे जल्दी-से-जल्दी पूरा करने का जी-जान से प्रयत्न करूंगा, जिससे सोवियत संघ के निवासी भारत की महान संस्कृति की इस निधि को पा सकें।"

कल्यानोव के जीवन में बड़े उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी कि एक दिन वह भारतीय विद्या के विशेषज्ञ बनेंगे और संस्कृत के गहन अध्ययन द्वारा इतनी ख्याति अर्जित करेंगे। उनका काम तो मशीन बनाने वाले एक कारखाने में डिजाइनें तैयार करने का था और इससे वह पूर्णतया संतुष्ट थे। उनके हाथ हिन्दुस्तान के विषय में कुछ पुस्तकें पड़ीं। उन्हें पढ़ने पर उनके मन में एक नई उमंग और एक नई जिज्ञासा उत्पन्न हुई। यह अक्तूबर-क्रांति की देन थी, जिसने सर्वहारा वर्ग को अपने देश का स्वामी बना दिया। कालेजों और विश्वविद्यालयों के द्वार सामान्य व्यक्तियों के लिए खुल गये। कल्यानोव लेनिनग्राड विश्व-

विद्यालय में विद्यार्थी के रूप में भर्ती हो गये।

उनकी गंभीरता ने प्रो० एलेक्सै वारान्निकोव का ध्यान अपनी ओर खींचा और वह उनकी पढ़ाई में विशेष रुचि लेने लगे। एक साल वीतते-वीतते कल्यानोव बहुत अच्छी तरह से हिन्दी और उर्दू पढ़ने-लिखने लगे। तभी उनका परिचय थियोडोर श्चेरवेत्स्कि से हुआ, जो भारतीय विद्या के क्षेत्र में सारे संसार में विख्यात थे। वह कल्यानोव को बराबर पढ़ाते रहे। बाद में कल्यानोव को भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान राहुल सांस्कृत्यायन के साथ लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में काम करने का अवसर मिला।

अब महाभारत के अनुवाद का कार्य उनके जीवन का विशेष ध्येय बन गया। यह महाकाव्य सोवियत कवियों, लेखकों और संगीतज्ञों के लिए वर्षों से आकर्षण की चीज थी, लेकिन उसका रूसी भाषा में सम्पूर्ण अनुवाद प्राप्य नहीं था, जहां-तहां से कुछ अंश मिलते थे। कल्यानोव इस कार्य को विधिवत रूप से पूर्ण करने पर जुट गये।

लेकिन ज्योंही उन्होंने अपना शोध-ग्रंथ पूरा किया कि युद्ध आरंभ हो गया। कल्यानोव सेना में दाखिल हो गये।

नाजी सेनाएं लेनिनग्राड के नजदीक आ गईं और उन्होंने शहर की घेरेबंदी कर ली। कड़ी घेरेबंदी की जकड़ में हर सिपाही का महत्त्व था। फिर भी सन् १९४२ में कल्यानोव को सेना से वापस बुलाकर अपना काम पूरा करने के लिए ताशकंद भेज दिया गया। युद्ध की भीषण लपटों के बीच कल्यानोव अपनी साधना में लीन रहे और उन्हीं की साधना के फल-स्वरूप महाभारत के अनुवाद का महान कार्य सम्पादित हो सका।○

१३

भारत और भारती के प्रेमी

कुछ वर्ष पहले की बात है। उज्जैन में बहुत बड़े पैमाने पर कालिदास-समारोह हुआ। उस समारोह में किसी भारतीय वक्ता ने अंग्रेजी में भाषण किया तो एक विदेशी युवक मर्माहत हो उठा और यह कहकर बाहर चला आया कि इस प्रकार के समारोह में विदेशी भाषा का प्रयोग अशोभनीय एवं अपमानजनक है।

यह युवक थे रूस के भारतविद् डाक्टर प० अ० बारान्निकोव, जिनसे भारतीय संस्कृति और राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रत्येक प्रेमी भलीभांति परिचित है। बारान्निकोव सन् १९५६ से १९५९ तक रूसी राजदूतावास के सांस्कृतिक अधिकारी के रूप में भारत में रहे थे और अब 'हिंदी क्षेत्र में बहुभाषीयता' विषय पर रूसी भाषा में एक पुस्तक तैयार करने के सिलसिले में छह महीने भारत में रहकर अपने देश लौटे हैं।

जिन लोगों को उनके संपर्क में आने का अवसर मिला है (और उनके मित्रों तथा परिचितों की संख्या बहुत बड़ी है), वे यह देखकर अभिभूत हुए बिना नहीं रहे कि भारतीय संस्कृति और हिंदी उनके रोम-रोम में व्याप्त है। वस्तुतः वह किसी भी भाषा के विरोधी नहीं हैं। स्वयं कई भाषाएं जानते हैं, किंतु उनकी मान्यता है कि स्वाधीन देश की अपनी राष्ट्रभाषा होनी चाहिए और हरेक देशवासी के हृदय में उसके लिए स्वाभिमान का होना अत्यावश्यक है।

भारत के प्रति यह निष्ठा उन्हें अपने पिता स्व० प्रोफेसर अलेक्सी पेत्रोविच वारान्निकोव से विरासत में मिली। जिन्होंने तुलसीकृत 'राम-चरित-मानस' का रूसी भाषा में अनुवाद करके भारत और रूस के बीच गहरा सद्‌भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।

इन यशस्वी पिता के सुयोग्य पुत्र प० अ० वारान्निकोव ने अपनी पैतृक परंपरा को सुरक्षित ही नहीं रखा, उसकी श्रीवृद्धि भी की। जिस समय भारत स्वतंत्र हुआ, उनकी अवस्था कुल २३ वर्ष की थी। उन्होंने संकल्प किया कि मैं हिंदी और भारत-शास्त्र का विशेष अध्ययन करूंगा। वह उस समय लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में हिंदी के विद्यार्थी थे। सन् १९६३ में वहीं से उन्होंने 'हिंदी पर्यायवाची शब्द' विषय पर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आज हिंदी पर उनका इतना अधिकार है कि वह धाराप्रवाह हिंदी बोलते और लिखते हैं। उससे भी बढ़कर विशेषता यह है कि उनके लिखने या बोलने में एक शब्द भी अंग्रेजी या अन्य किसी भाषा का नहीं आने पाता। हिंदी का उन्होंने विधिवत अध्ययन किया है। सन् १९५६ में 'हिंदुस्तानी, हिंदी और उर्दू व्याकरण' को, जिसे उनके पिता ने तैयार किया था, इन्होंने परिमार्जित और संशोधित किया और उसका प्रकाशन कराया। इसके अतिरिक्त स्व० कामता प्रसाद गुरु के हिंदी व्याकरण का रूसी अनुवाद दो खंडों में निकला। हिंदी के कुछ लेखकों की कृतियों के रूसी भाषांतर किये। सन् १९७२ में इनकी 'हिंदी क्षेत्र की भाषाएं तथा भाषा-संबंधी समस्याएं' पुस्तक प्रकाशित हुईं, अनंतर 'सोवियत संघ की लोककथाएं'।

वारान्निकोव के संस्कृति, साहित्य और भाषा के इस असीम अनुराग के पीछे एक महान् ध्येय है और वह यह कि भारत और रूस के बीच मैत्री और बंधुत्व की भावना अधिकाधिक प्रगाढ़ हो। इसी ध्येय की पूर्ति केलिए मानों उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर रखा है। वह अपने देश में हों या भारत में, उनके मस्तिष्क में यही उदात्त भावना चक्कर लगाती रहती है। सोलह वर्ष पूर्व भारत से विदा होते समय, उन्होंने अपने आंतरिक उद्‌गार

प्रकट करते हुए कहा था :

"यदि हम संसार का मानचित्र देखें तो हमें राजनैतिक मानचित्र मिल जायगा, भौगोलिक मानचित्र मिल जायगा, लेकिन हमें संसार का एकऔर मानचित्र बनाने की कोशिश करनी चाहिए। वह है विश्व के विभिन्न देशों की मैत्री का मानचित्र, जिसके केन्द्र में भारत और सोवियत जनता की मैत्री का सागर होगा। मेरी आकांक्षा है कि इस सागर में मैं भी एक अदृश्य बूंद बनकर अपना योगदान कर सकूं।"

वारान्निकोव का जन्म ११ जुलाई १९२५ को लेनिनग्राड में हुआ था। दसवीं कक्षा में उत्तीर्ण होकर वह १९४३ में सेना में भरती हो गये और १९४६ तक सैनिक के रूप में सेवा करके लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और १९५२ में डिप्लोमा प्राप्त किया। इसी वर्ष उनके पिता का देहांत हो गया।

वारान्निकोव १९५६ तक लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे, फिर कुछ वर्ष राजनयिक सेवा में भारत में रह कर १९५९ में स्वदेश लौट गये और अब लेनिनग्राड विश्वविद्यालय के अंतर्गत शोध और लेखन का कार्य कर रहे हैं।

वारान्निकोव का हृदय बड़ा ही सरल और निश्छल है। वह विनम्र और सुसंस्कृत हैं। भारतीय पद्धति से सिर झुका कर और हाथ जोड़ कर जब वह नमस्कार करते हैं तो उनके चेहरे पर भारतीयता मुखर हो उठती है, बंधुत्व झलकने लगता है।

वारान्निकोव मूलतः साहित्य और संस्कृति के व्यक्ति हैं। वह रूस और भारत के बीच अटूट बंधुत्व स्थापित करने का कार्य कर रहे हैं। मानव का उनके लिए सर्वोपरि महत्व है। यही कारण है कि वह वाणी और लेखनी द्वारा मानवीय मूल्यों के व्यापक प्रसार में संलग्न हैं। अपने देश में बैठकर भी वह भारत के साथ सजीव संपर्क बनाये रखते हैं।

वारान्निकोव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह आपसी संबंधों को सदा हरा-भरा रखते हैं। यही कारण है कि उनके भारत में निवास के

दिनों में उनसे मेरा जो स्नेह-संबंध स्थापित हुआ, वह कभी टूटा नहीं, बराबर बढ़ता गया है। जाने कितनी बार उनसे मिलना हुआ। वह मेरे घर भोजन करने पधारे, उन्होंने अपने यहां मुझे आमंत्रित किया और जब वह स्वदेश लौट गये तो वहां से पत्र लिखते रहे। एक बार उन्होंने अपने परिवार का रंगीन चित्र भेजा। सच यह है कि उनके अंदर अच्छे मित्र के सभी गुण मौजूद हैं। किसी कवि ने कहा है :

हम सब हैं यात्री जीवन के
महासिंधु में,
पा सकते अनमोल ख़ज़ाना यदि हम कोई
तो वह है बस एक चीज़ ही—
सच्चा मित्र।

वारान्निकोव ऐसे ही मित्र हैं।○

१४ | नेपाल के तपस्वी

मझोला कद, गठा शरीर, भरी हुई आंखें, सांवला रंग, पहाड़ियों की-सी आकृति, देहाती वेश-भूषा, कंधे पर लटका झोला, सिर पर नेपाली टोपी, सरलता और सज्जनता की मूर्ति—यह हैं नेपाल के तपस्वी तुलसी मेहेर श्रेष्ठ, जिन्हें नेपाल का बच्चा-बच्चा जानता है, आदर की दृष्टि से देखता है और जिनको भारतवासी अपना मानकर स्नेह और सम्मान देते हैं। जन्मे नेपाल में, लेकिन संस्कार पाये भारतीय, और इस प्रकार उभय देशों के हितों के वह निष्ठावान प्रतिनिधि बन गये।

सामान्य से दीखने वाले तुलसी मेहेरजी, वास्तव में, असामान्य व्यक्ति हैं। उनका जन्म नेपाल के ललितपुर नगर के नेवार कुल में विक्रम संवत् १९५३ की पौष शुक्ल एकादशी को हुआ। बचपन से ही उन्होंने सच बोलने, शराब न पीने और भैंसे तथा मुर्गी का मांस न खाने का नियम बना लिया। आगे चलकर महर्षि दयानंद का 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ़ा तो जीवमात्र के मांस का त्याग कर दिया। उनका यह त्याग कम नहीं था, क्योंकि इन व्यसनों की प्रबल शक्तियां उनके चारों ओर फैली हुई थीं। बाद में जब उन्होंने 'सत्याचरण सभा' बनाकर प्रत्येक एकादशी को मांस-मदिरा का त्याग कराने के लिए आंदोलन द्वारा लोकमत जाग्रत करने का प्रयत्न किया तो शासन चौकन्ना हो उठा। उन दिनों नेपाल में राणाओं की तूती बोलती थी और कोई भी व्यक्ति उनके विरुद्ध मुंह नहीं खोल सकता था। लेकिन तुलसी मेहेरजी ने उसकी चिन्ता नहीं की और अपने

आंदोलन को जारी रखा।

नतीजा जो होना था, वही हुआ। सरकार ने कुपित होकर उन्हें बारह वर्ष की जेल अथवा आजन्म देश-निकाले की सजा दी। तुलसी मेहेरजी ने सोचा कि जेल में पड़े रहने से तो अच्छा यही होगा कि वह देश छोड़ दें और भारत में रहकर कुछ सेवा-कार्य करें। उन्होंने यह बात जब तत्कालीन प्रधानमंत्री राणा शमसेरसिंह जंगबहादुर से निवेदन की तो उन्होंने इस विचार से कि गांधीजी जैसे अहिंसक व्यक्ति के पास रहकर उनकी उग्रता दूर हो जायगी, उन्हें गांधीजी के सत्याग्रह आश्रम (साबरमती) में जाने की अनुमति दे दी। इतना ही नहीं, बल्कि रास्ते के खर्च और छः महीने के लिए छात्रवृत्ति की भी व्यवस्था करा दी।

तुलसी मेहेरजी के जीवन में एक नया मोड़ आया। पच्चीस साल का यह युवक सन् १९२१ में गांधीजी के पास पहुंच गया। स्कूली पढ़ाई-लिखाई उनकी कुछ हुई नहीं थी, अतः पढ़ने-लिखने का कोई काम तो कर नहीं सकते थे, उन्हें वस्त्र-स्वावलंबन की शिक्षा दी गई। कपास लोढ़ना, रुई धुनना, सूत कातना और कपड़ा बुनना, इन सबमें कुछ ही दिनों में उनका अच्छा अभ्यास हो गया। फिर तो बारडोली के सत्याग्रह के दौरान बारडोली ताल्लुके के गांव-गांव, घर-घर, घूमकर ग्रामीण भाई-बहनों को खादी-उत्पादन और ग्रामोद्योगों की शिक्षा देते रहे।

सन् १९२४ में एपैण्डीसाइटिस के ऑपरेशन के बाद जब गांधीजी एक मास जुहू में विश्राम करके साबरमती लौटे तो तुलसी मेहेरजी ने उनकी निजी सेवा का काम अपने हाथ में ले लिया। उनके लिए यह एक बहुत बड़ा सौभाग्य था, क्योंकि गांधीजी के पास राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, सभी क्षेत्रों और सभी देशों के लोग आते-जाते रहते थे। उनकी चर्चाओं को सुनना अपने आप में बहुत बड़ी शिक्षा थी। कुछ ही दिनों में वह स्वयं जन-सेवा का कोई विशेष कार्य हाथ में लेने का विचार करने लगे।

इसी बीच सन् १९२४ के सितम्बर में हिन्दू-मुस्लिम दंगे के कारण

गांधीजी ने दिल्ली में २१ दिन का उपवास आरंभ किया। जब इसकी खबर साबरमती आश्रम में पहुंची तो तुलसी मेहेरजी को बड़ी बेचैनी हुई। वह आगे सेवा करने के लिए गांधीजी का मार्ग-दर्शन चाहते थे। यदि उपवास के दिनों में गाँधीजी को कुछ हो गया तो ? उनकी इच्छा मन-की-मन में रह जायगी। यह सोच-सोचकर उनकी सारी रात छटपटाते बीती।

अगले दिन उन्होंने गांधीजी को एक पत्र में ये सब बातें लिखकर दिल्ली भेज दीं। तत्काल उत्तर मिला :

चिरंजिव तुलसी मेहेर,

आज का आश्रम का पत्र तुम्हारे नाम भेजने का निश्चय मैंने कल ही किया था। आज तो तुम्हारा पत्र आ गया। तुम और दूसरे आश्रमवासियों से मेरी तो यही प्रार्थना है कि सब सत्य और अहिंसा का सेवन करें, जगत् में किसी प्राणी से घृणा न करें और क्षुधा से पीड़ित करोड़ों हिन्दवासियों के लिए धुनें, कातें, बुनें और इसी का प्रचार करें। अक्षर-ज्ञान अवश्य हासिल करें, मानसिक शक्ति में वृद्धि करें, परन्तु चर्खा को प्रधान पद दें। मैं खूब आनन्द में हूं। मेरी थोड़ी-सी भी चिन्ता कोई न करें।

सन् १९२४, सेप्टेम्बर २१, बापू के आशीर्वाद
भाद्रकृष्णा ८, दिल्ली।

उपवास के समाप्त होने पर गांधीजी आश्रम लौट आये। सन् १९२५ में कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर कानपुर में खादी-प्रदर्शनी के लिए तुलसी मेहेरजी को भेजने का निश्चय हुआ। तुलसी मेहेरजी की इच्छा हुई कि वह कानपुर के बाद नेपाल चले जायं और खादी के कार्य द्वारा अपनी जन्म-भूमि के निवासियों की सेवा करें। यदि वहां उनका उपयोग न हो तो भारत लौटकर कहीं कार्य-क्षेत्र बनाकर कुछ करें।

जब उन्होंने गांधीजी से यह बात कही तो गांधीजी ने उन्हें समझाया, "तुम नेपाल जाना चाहते हो, इसलिए जाओ। इतना ही नहीं, बल्कि मैं कहता हूं कि एक बार तुम नेपाल जाकर अपने प्रधानमंत्री राणा साहब से

मिलकर बात करो कि वह तुम्हारा उपयोग नेपाल में अच्छी तरह से करेंगे या नहीं। करें तो अहोभाग्य है। अगर तुम्हें अपनी मातृ-भूमि की सेवा करने को न मिले तो वापस चले आओ और इधर भारत में ही जो सेवा बन सके, करते रहो। इसमें दुःख मानने की कोई बात नहीं है। भारत में तुम जो-कुछ सेवा करोगे, उसका फल नेपाल के हिमालय की चोटी पर जाकर फलेगा। तुम्हारे कहने के अनुसार तुम्हारे जीवन का पथ अब निश्चित हो ही जाना चाहिए। इसलिए तुम नेपाल जाओ और प्रधान मंत्री से मिलकर अपनी द्विविधा का निवटारा करो। बिना उसके वापस नहीं आना, चाहे जितना समय लगे।"

तुलसी मेहेरजी के जाने की सुनकर आश्रमवासी चकित रह गये। उन्होंने उनको समझाया कि बापू के साथ का जो दुर्लभ अवसर उन्हें मिला है, उसे उनको छोड़ना नहीं चाहिए। जब उन लोगों ने बहुत दवाया तो तुलसी मेहेरजी ने फिर गांधीजी से पूछा। गांधीजी का वही उत्तर था कि नेपाल जाओ। तुलसी मेहेरजी ने जाने का निश्चय कर लिया। जब वह कानपुर से नेपाल के लिए रवाना होने लगे तो गांधीजी ने उन्हें लिख कर दिया :

"श्री तुलसी मेहेरजी सत्याग्रह आश्रम में कम-से-कम चार वर्ष तक रहे हैं। उनके संयम ने मेरे दिल पर बड़ा प्रभाव डाला है। वे बड़े सादगी से आश्रम में रहते थे। उनका उद्यम भी स्तुत्य था। उन्होंने धुनना, कातना, बिनना सीख लिया है और धुनने में उनका पहला स्थान रहा है। आज भी मैं उनको आश्रमवासी समझता हूं।"

मोहनदास गांधी

२९-१२-२४, कानपुर

इस आशीर्वाद को लेकर तुलसी मेहेरजी काठमांडू जाने के लिए सीमांत नगर वीरगंज पहुंचे, लेकिन राहदानी न होने के कारण तीन महीने वहां पड़ा रहना पड़ा। प्रधानमंत्री का आदेश-पत्र मिलने पर १९२६ के नवम्बर मास में काठमाण्डू में प्रवेश किया। नेपाल के तीन मुख्य नगर हैं—

काठमांडू (कांतिपुर), ललितपुर (पाटन) और भक्तपुर। तुलसी मेहेरजी ने चर्खा-प्रचार के लिए भक्तपुर में श्री दत्तात्रेय के मंदिर के पास की धर्मशाला में डेरा डाला। कुछ समय तक मन में द्विविधा और परेशानी रही। विद्या का अभाव था, पैसे की तंगी थी और उद्योग-धंधे के शिक्षण के नाम पर केवल चर्खे का ज्ञान था। फिर भी आम जनता और सरकार को आशा थी कि तुलसी मेहेरजी कुछ-न-कुछ सेवा अवश्य करेंगे। लोगों की आशा को वह कैसे पूरा करेंगे? ऐसी ही बातें सोचते-सोचते एक दिन रात को उन्हें नींद आ गई। स्वप्न में देखा कि कोई अपरिचित स्थान है। एक मनोरम बगीचे के बीच एक बंगले में गांधीजी एकांत में शांति से बैठे हैं। तुलसी मेहेरजी ने उन्हें सारी बातें सुनाईं। सुनकर गांधीजी बोले, "देखो, तुलसी मेहेर, मैं अच्छी तरह से जानता हूं कि तुममें विद्या, धन और विशेष कला-कौशल भले ही न हो, पर तुम कोई चिन्ता न करना। तुममें निस्स्वार्थ भाव से चर्खे द्वारा गरीब जनता की सेवा करने का जो विशेष गुण है, वह कम महत्त्व की बात नहीं है। जबतक तुम निस्स्वार्थ भाव से सेवा-कार्य करते रहोगे, तबतक तुम्हारा कार्य-क्षेत्र विस्तृत होना स्वाभाविक है और जैसे-जैसे तुम्हारा कार्य-क्षेत्र बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे ईश्वर तुम्हारे मार्ग में प्रकाश डालता जायेगा। परन्तु तुम सांसारिक क्षुद्र स्वार्थ में फंस जाओगे तो तुमको इस दुनिया में सम्भालने वाला कोई भी नहीं होगा और तुम्हारा पतन अवश्यंभावी होगा। इतना ध्यान में रखना।"

आंख खुलने पर तुलसी मेहेरजी ने यह स्वप्न गांधीजी को लिखकर पूछा कि यदि वह उनके पास होते और अपना अंतर-मंथन उनको सुनाते तो क्या वह वही उपदेश देते, जो उन्होंने स्वप्न में दिया? गांधी ने उत्तर में लिखा :

चिरंजिव तुलसी मेहेर,

स्वप्न अच्छा था। उसमें तुमने जो सुना, उससे ज्यादाह कुछ भी मैं कह नहीं सकता। इतना ही हो जाय तो काफी। तबीयत अच्छी होगी।

नेपाल में गैयां और भैंसें रहती हैं क्या ? जिस कागज पर खत लिखते हो, वह हाथ का वना हुआ है। वहाँ वनता है या वाहर से आता है ? उसका क्या दाम होता है ?...

सन् १६२६, नोवेम्वर १३ वापू के आशीर्वाद
आश्रम सावरमती

इसकेवाद तुलसी मेहेरजी ने चर्खा-प्रचार करने के लिए नेपाल के प्रधान मंत्री से आदेश और कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त की, कुछ धन जनता से संग्रह किया और 'चर्खा-प्रचारक महागुठी' नामक संस्था की स्थापना करके काठमांडू, पाटन और भक्तपुर आदि में खादी का कार्य आरंभ किया। उनकी लगन, सूझ-बूझ और परिश्रम-शीलता से वह कार्य निरंतर आगे बढ़ता गया। बाद में भारत की 'गांधी स्मारक निधि' और भारत सरकार के सहयोग से 'नेपाल गांधी स्मारक निधि' स्थापित की। उसके द्वारा चर्खे का काम और गांधी आदर्श विद्यालय का संचालन किया।

तुलसी मेहेरजी से मैं पहली वार कव मिला था, अव याद नहीं आता, लेकिन मैंने तीन बार नेपाल की यात्रा की तो उन यात्राओं के पीछे तुलसी मेहेरजी, और वहां के भूतपूर्व मंत्री वंधुवर खंग मानसिंह की विशेष प्रेरणा रही। तुलसी मेहेरजी की कर्मठता और जन-सेवा के कार्यों को देख-कर चकित रह गया। दो वार उनके विद्यालय में ही ठहरा। वह स्वयं ललितपुर के वागमती नदी के तट पर, निर्जन श्मशान भूमि में निर्मित एक धर्मशाला में रहते थे, जिसकी ऊपर की मंजिल में उनकी आठ फुट चौड़ी, पन्द्रह फुट लम्बी और पांच फुट ऊंची कोठरी थी। वहीं से घूम-घूमकर वह पाटन, मनोहरा, जनकपुर आदि स्थानों में अपनी रचनात्मक प्रवृतियां चलाते थे। सामान उनके पास केवल इतना था कि एक छोटे-से वंडल में बांधकर बगल में दबाकर ले जा सकते थे। उनकी 'चर्खा-प्रचारक महागुठी' तथा 'महिला उद्योग मंदिर' वहां की जनता के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान बना रखा था। उनके सारे केन्द्रों को मैंने देखा। अनेक भाई-बहन निस्स्वार्थ

सेवा-भाव और लगन से कार्य कर रहे थे और जाने कितने वेकार स्त्री-पुरुषों को उन केन्द्रों में काम मिल रहा था।

नगर के कोलाहल से दूर, हवाई अड्डे के निकट, मनोहरा नामक ग्राम में स्थित उनके विद्यालय का मूलमंत्र मुझे बड़ा प्रिय लगा :

- ज्ञान प्राप्त करो, कर्म करने के लिए
- कर्म करो, ज्ञान प्राप्त करने के लिए
- स्वावलम्वी बनो, जीने के लिए
- जीओ, सेवा करने के लिए।

विद्यालय, उद्योग मन्दिर तथा खादी-केन्द्र के उद्देश्य थे : वहां की सामान्य जनता को शिक्षित करना, स्वावलम्वी बनाना और उनके वर्तमान स्तर को ऊंचा उठाना। अपने प्रेम और सेवा के बल पर तुलसी मेहेरजी ने शासन और जनता के दिलों में अपनी जगह बना ली और भारत और नेपाल को प्रेम की मजबूत डोर में वांध दिया।

तुलसी मेहेरजी बहुत कम बोलते हैं। लम्बे-चौड़े भाषणों में उनका विश्वास नहीं। अपनी पूरी क्षमता से व्यक्ति जनता की मूक सेवा करता रहे, यही उन्हें प्रिय है और यही उनके जीवन का लक्ष्य है। उनके लिए सबसे अधिक महत्त्व गुणवान चरित्र का है। निर्भीकता, सत्य-परायणता, संयम और अध्यवसाय, ये गुण उनके जीवन में कूट-कूट कर भरे हैं। अपनी सारी प्रवृत्तियों द्वारा वह इन्हीं गुणों का समावेश दूसरों में करना चाहते हैं।

तुलसी मेहेरजी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें लालच और सत्ता के प्रति आकर्षण नहीं। उन्हें नेपाल के मंत्रिमंडल में सम्मिलित होने के लिए कहा गया था, पर उन्होंने इन्कार कर दिया। इसके पीछे बड़प्पन का कोई वृथाभिमान अथवा सेवा का अहंकार नहीं था, बल्कि जनता-जनार्दन के साथ एकात्म्य की भावना थी। वह अपने को दरिद्र-नारायण का प्रतिनिधि मानते हैं और सत्ता के व्यामोह से अपने को दूर रखना चाहते हैं।

अपने दीर्घकालीन सम्पर्क में मैंनें उन्हें सदा इस वात के लिए चिंतित पाया कि उनका कार्य किस प्रकार व्यापक बने और सक्रिय रूप से चले। तीन लाख की खादी इकट्ठी हो गई है, वह कैसे निकले, भारत की 'गांधी स्मारक निधि' ने अनुदान देना वंद कर दिया है, पैसे की व्यवस्था कैसे हो; उनके केन्द्रों तथा संस्थाओं से अधिक-से-अधिक गरीव एवं बेकार लोगों को कैसे लाभ पहुंचे, इस सवकी उन्हें रात-दिन उधेड़-बुन रही है।

उनकी अवस्था अव ७७ वर्ष की है और वह वावा विनोवा की प्रेरणा से अपनी प्रवृत्तियों के संचालन का दायित्व अपने सहयोगियों को सोंपकर २ अक्तूवर १९७२ से गांधीजी के सेवाग्राम-आश्रम में आ गये हैं। पर वह कहीं भी रहें, भारत में या नेपाल में, उनकी तपस्या सतत चलती रहेगी और उनके चारों ओर का वातावरण जन-सेवा की उदात्त भावना से हर घड़ी महकता और लोगों को प्रेरित करता रहेगा।○

१५

मूक सेविका

विश्व-शान्ति के लिए काम करने वाले जिन व्यक्तियों से लंदन में मिलना हुआ, उनमें एक आंग्ल बहन की स्मृति आज भी मन पर बनी हुई है। शरीर से कुछ भारी, पर बेहद फुर्तीली कुमारी एडिथ एडलम कभी की सांठ पार कर चुकी थीं, पर उनकी उमंग और उत्साह को देखकर ऐसा लगता था कि कोई युवती भी उनके सामने क्या ठहर सकेगी ! मेरे पास उनके नाम एक चिट्ठी थी। जब मैं 'फ्रैंड्स हाउस' में जाकर उनसे मिला तो अपने देश की परम्परा के विपरीत वह ऐसे खुल कर मिलीं, मानो हम एक-दूसरे से बहुत समय से परिचित हैं। वह गांधीजी से भेंट कर चुकी थीं और विनोबाजी के भूदान यज्ञ में उनकी बेहद दिलचस्पी थी। बोलीं, "हम लोग साथ-साथ भोजन करेंगे और आप एक घण्टे गांधी-विचार-धारा और भूदान पर बोलेंगे। मैंने कई मुल्कों के भाई-बहनों को बुलाया है।"

थोड़ी देर में हम सब मिलकर पास के एक सस्ते रेस्तोरां में गये। मैं घर से खाना खाकर गया था। उन लोगों ने खाना और मैंने बोलना आरंभ किया। गांधी-विचार-धारा और भूदान के मोटे-मोटे उसूल उन्हें बताकर अंत में मैंने समझाया कि गांधी और विनोबा दोनों की दृष्टि कितनी व्यापक है। दोनों का चरम-लक्ष्य सबको सुखी बनाना और शान्ति स्थापित करना है।

उन लोगों ने बहुत-से सवाल किये। अंत में जब हम चलने लगे तो

कुमारी एडलम ने कहा, "हम शांतिवादी आणविक अस्त्रों के परीक्षण के विरुद्ध कल हाइड पार्क से ट्रैफलगर स्क्वायर तक एक जुलूस निकालेंगे। जुलूस में कुछ खास-खास नागरिक और पार्लामेंट के सदस्य होंगे। आप भी उसमें शामिल हों। ऐसा करें कि 'फ्रैंड्स हाऊस' आ जायं। वहां से हम साथ चले चलेंगे।"

अगले दिन जब मैं 'फ़्रैंड्स हाऊस' पहुंचा तो देखता क्या हूं कि कंधे पर झोला डाले, एक स्वयंसेवक की भांति कुमारी एडलम तैयार खड़ी हैं। बोलीं, "मैं तो यहां से पैदल ही चलना पसंद करती, पर हमारे पास समय कम है। हमें हाइड पार्क कुछ पहले पहुँच जाना चाहिए। तुम्हें कुछ दोस्तों से मिला दूंगी।"

इतना कहकर वह तेज कदमों से बस के अड्डे की ओर बढ़ीं। बस में सवार होकर बोलीं, "हम लोगों के पास पैसे की बड़ी तंगी रहती है। टैक्सी हम बहुत जरूरत पड़ने पर ही इस्तेमाल करते हैं।"

हाइड पार्क से हम सब शान्ति के नारे लगाते हुए ट्रफलगर स्क्वायर पहुंचे, जहां एक विराट सभा हुई। कुमारी एडलम की एक विशेषता देख कर मैं दंग रह गया। वह मंच पर नहीं गई। उनके संगी-साथी जब धुंआ-धार भाषण दे रहे थे, वह महिला चुपचाप भीड़ के बीच घूमती हुई शान्ति के महान ध्येय के लिए पैसे इकट्ठे कर रही थीं। वह मानती थीं कि जो आनन्द मूक सेवा में है, वह पद-प्रतिष्ठा में नहीं है।

तीसरी बार मिले तो बोलीं, "हमारा एक अखबार 'पीस न्यूज' निकलता है। उसके कार्यालय में नहीं चलेंगे? वहां कई मित्रों से भेंट होगी।'

मेरे 'हां' कहने पर वह एक तरुणी की भांति लम्बे-लम्बे डग रखती हुई 'पीस न्यूज' के दफ्तर की ओर चल पड़ीं। बोलीं, "पास ही है हमारा दफ्तर। क्यों, थक तो नहीं जायंगे?"

मैंने कहा, "मेरी चिन्ता न करें। मुझे पैदल चलने का अभ्यास खूब है।"

"बड़ी खुशी की बात है। हम लोग कौड़ी-कौड़ी बचाते हैं। ज्यादा-तर पैदल चलते हैं। जरूरी हुआ तो ट्राम-बस का इस्तेमाल कर लेते हैं। जहां तक बनता है, टैक्सी नहीं लेते। हम लोग जरा झुक जायं तो खूब पैसा आ सकता है। पर वैसा पैसा किस काम का ! उसूल की जिन्दगी बिताने में जो सुख मिलता है, वह पैसे के जोर पर जिन्दगी बिताने में कहां मिलता है !"

मैंने कहा, "पर..."

उन्होंने मेरा वाक्य पूरा किया, "आप यही कहना चाहते हैं न कि बिना पैसे के काम नहीं चलता। ठीक है। पैसे का बहिष्कार हमने भी कहां किया है। असल बात यह है कि जीवन के साथ पैसे का संतुलन होना चाहिए। बड़ा इंसान है, पैसा नहीं, पर आज के समाज में पैसे ने इंसान और इंसानियत को दबा लिया है। लेकिन हम मानते हैं कि वह समय आयेगा, जब हमारे मूल्य बदलेंगे और हमारे आपसी संबंधों की बुनियाद में पैसा नहीं, मोहब्बत होगी।"○

१६

आत्म-विश्वास की जीवंत प्रतिमा

कहते हैं, समय बड़ा बलवान होता है। वह बड़ी-से-बड़ी घटना या स्मृति पर पर्दा डाल देता है। लेकिन कभी-कभी जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनकी याद पत्थर की लकीर की भांति मन पर सदा के लिए अंकित हो जाती है। ऐसी ही एक घटना २२ फरवरी १९५५ की संध्या की है।

हमारे मित्र कृष्ण कृपालानी का फोन आया कि आज राष्ट्रपति भवन में एक मिलन-समारोह का आयोजन किया गया है। अपनी मित्र-मंडली के साथ मैं उसमें जरूर आऊं। न पहले से कोई सूचना, न कोई चिट्ठी, न कोई निमंत्रण-पत्र। फोन पर आग्रह ! कैसा है यह राष्ट्रपति भवन का समारोह ! जिज्ञासा-वश पूछा तो कृपालानीजी ने बताया कि आज हेलन केलर को बुलाया है। एकदम घरेलू समारोह है, जिससे लोग बिना किसी जाब्ते के, मुक्त भाव से, उनसे मिल सकें।

हेलन केलर का नाम मैं पहले सुन चुका था। उनके विषय में यत्र-तत्र कुछ लेख पढ़े थे और उनकी जीवनी ने तो मुझे चमत्कृत कर दिया था। नेत्रहीन, मूक और बधिर होने पर भी उन्होंने अपनी उपलब्धियों से सारे संसार को चकित कर दिया था।

उनके दर्शन का सहज ही अवसर आ गया था। उस लोभ को संवरण करना संभव नहीं था। समय पांच बजे का था, लेकिन हम चार व्यक्तियों की टोली समय से बहुत पहले ही राष्ट्रपति भवन पहुंच गई।

धीरे-धीरे लोगों का आना शुरू हुआ और कुछ ही देर में देखा कि

राष्ट्रपति भवन का विशाल अशोक कक्ष केन्द्रीय मंत्रियों, नेताओं, अधिकारियों, साहित्यकारों तथा राजधानी के संभ्रान्त नागरिकों से भर गया। उस दिन लोगों के बैठने के लिए कुर्सियों की व्यवस्था नहीं की गई थी। एक ओर को एक सोफ़ासेट रख दिया गया था, जिस पर मुख्य अतिथि तथा उनसे बात करने वाले व्यक्ति बैठ सकें। कुछ समय पहले जो कक्ष निःशब्द था, वह अब नर-नारियों के स्वर से मुखरित हो उठा था।

पांच बजने से कुछ पूर्व प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू आये, फिर राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद। वे भीड़ में हिल-मिल गये। लगता था, मानो एक बड़ा कुटुम्ब वहां एकत्र हुआ है। कोई अशोक कक्ष के रंग-विरंगे पुरातन चित्रों को देख रहा था तो कोई उसकी खिड़कियों से आलीशान मुग़ल उद्यान के मनोहारी दृश्यों का आनन्द ले रहा था। ठीक पांच बजते ही सबकी निगाह राष्ट्रपति-निवास की ओर के द्वार के पर्दे पर गई। पर्दा हटा और दो महिलाएं कक्ष में प्रविष्ट हुईं। उनमें एक ने नीले रंग का चोगा पहन रखा था और पैरों में सफेद सेंडल थे, सिर पर टोपी। शरीर उनका कुछ भारी-सा था। मुख-मंडल प्रेम और उल्लास से चमक रहा था। चैतन्य से अंग-प्रत्यंग गतिशील था। यही थीं हेलन केलर। उनके साथ की दूसरी महिला थीं उनकी सचिव कुमारी पौली थामसन। वह हेलन केलर से कुछ लम्बी थीं और बदन उनका कुछ हल्का था।

कक्ष में उनके पैर रखते ही ऐसी निस्तब्धता छा गई कि सुई भी गिरे तो उसकी आवाज सुनाई दे जाय। लोगों ने उनके लिए रास्ता बना दिया और वे नारियां बड़ी शालीनता से आगे बढ़ती हुई सोफासेट के पास पहुंचीं और उस पर बैठ गईं। चारों ओर का वायुमंडल कौतूहल से भर उठा, साथ ही प्रेम की तरंगें फूट उठीं।

हम लोग उनके निकट ही खड़े हो गये। दोनों के चेहरों पर मुस्कराहट खेल रही थी। हेलन का हाथ पौली ने अपनी हथेली पर रख लिया था और वह बड़ी उत्सुकता से आगंतुकों की ओर देख रही थी।

मेरी निगाह कभी हेलन केलर पर जाती थी, कभी पौली थामसन

पर। दोनों ही विलक्षण नारियां थीं। हेलन केलर शरीर की बाधाओं को चुनौती देकर उन्नति के चरम शिखर पर पहुंची थीं और संसार के निराश और हताश मानव-समाज को आशा का संदेश दिया था। पौली थामसन का त्याग अभूतपूर्व था। आखिर ऐसे व्यक्ति के साथ रहना, जो कि न देख सकता हो, न बोल सकता हो, न सुन सकता हो, आसान बात नहीं थी। फिर वही थीं, जो हर घड़ी जागरूक रहकर अपनी स्वामिनी का दुनिया के साथ और दुनिया का स्वामिनी के साथ सजीव सम्पर्क जोड़ती थीं।

२

हेलन के जीवन में कितने उतार-चढ़ाव आये, उनका हिसाब नहीं। वह जन्मीं तब उनकी सारी इंद्रियां सामान्य थीं। वह देख सकती थीं, सुन सकती थीं, लेकिन जब अठारह महीने की हुईं तो उन पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा। उन्हें किसी रोग ने आ घेरा और उनके नेत्रों की ज्योति और सुनने की शक्ति नष्ट हो गई। कितना दु:ख और निराशा हुई थी उनके माता-पिता को ! उनकी लड़की कैसे अपना लम्बा जीवन व्यतीत करेगी। सारी उम्र कौन उसे सहारा देगा !

लेकिन उन्हें दु:ख और निराशा के भार को अधिक समय तक नहीं उठाना पड़ा। लड़की के सात वर्ष का होते-होते प्रभु ने उनके अन्तर की पुकार सुनी और कुमारी एन सलीवान के रूप में उस बालिका को ऐसा संवल दिया, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। उस कुमारिका को पता लगा कि हेलन छः महीने की थी तभी से बोलने लगी थी। वह 'वाटर' (पानी) को 'वा-वा' कहती थी। अब उसकी वाणी और आंखों की ज्योति सदा के लिए चली गई थी। इसलिए उसने सोचा कि उसे कोई ऐसा माध्यम खोजना होगा, जिससे वह बोल और सुन सके। बहुत सोच-विचार और परीक्षण के बाद कुमारी सलीवान को अपने प्रयास में सफलता मिली। लड़की के हाथ पर उंगली के संकेतों से उसने एक ऐसी भाषा विकसित की, जिससे हेलन की बुद्धि उत्तरोत्तर खुलती गई।

हममें से बहुत-से लोगों के जीवन का विकास कभी-कभी अवरुद्ध हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है, सब-कुछ समाप्त हो गया। परंतु यदि किसी प्रकार वह अवरोध दूर हो जाता है तो मनुष्य की शक्तियां पहले की अपेक्षा कहीं अधिक तेजी से काम करने लगती हैं।

यही बात हेलन के साथ हुई। उनमें बुद्धि थी, लेकिन रोग ने उस पर पर्दा डाल दिया। उनकी शिक्षिका और संरक्षिका एन सलीवान ने जैसे ही उस पर्दे को हटाया कि उनकी खोई हुई शक्ति कई गुने अधिक वेग से लौट आई।

कुमारी एन को इसके लिए कितना संघर्ष करना पड़ा, उसकी कहानी बड़ी रोमांचकारी है। विलियम गिब्सनने अपनी कृति 'दि मिरेकिल वर्कर,' में इसका बड़ा सजीव वर्णन देते हुए लिखा है :

"हेलन को वह पिछवाड़े के पम्प के पास ले गई। पम्प के हत्थे पर उसने हेलन के हाथ जमाये। उन हाथों पर अपने हाथ रखकर उसने हत्थे को ऊपर-नीचे किया, घुमाया, फिर अपने हाथ उठा लिये। हेलन समझ गई कि वह अकेली है और एन के हाथ उठाते ही वह हत्थे को पहले की तरह चलाती रही। तब हेलन को सामने लाकर एन ने पानी की धार से उसकी हथेलियां भिगो दीं। फिर उसकी हथेली पर अपनी उंगली से लिखा—डब्ल्यू···ए···टी···ई···आर—वाटर। हेलन का सूना चेहरा उसकी ओर देख रहा था। एन ने पाया कि बच्ची के अन्दर द्वन्द्व मचा हुआ है। उसके होंठ कांप रहे थे। हेलन के गले से आवाज निकली—वा···वा !

"एन ने आनन्द के अतिरेक से पागल होकर बच्ची के हाथ थाम लिये। हेलन ने हाथ छुड़ाये और जमीन पर बैठ गई। अदम्य कौतूहल से वह उबल रही थी। उसने जमीन को छूकर देखा और प्रश्न-भरी मुद्रा में उत्सुकता से अपनी हथेली एन की ओर बढ़ा दी, जिससे वह उस पर 'अक्षर' के 'इशारे' से बतावे कि नीचे जिस पर वह बैठी है, वह क्या है ? एन ने हथेली पर लिखा—जी···आर···ओ...यू···एन···डी—ग्राउण्ड।

हेलन ने उठकर उसी जिज्ञासा से पम्प को छुआ और एन की ओर हाथ बढ़ा दिया। एन ने उसकी हथेली पर लिखा—पी···यू···एम···पी—पम्प।"

फिर क्या था, हेलन के वर्षों से बंद द्वार खुल गये ! इसके पश्चात् हेलन की पढ़ाई-लिखाई तेजी से आगे बढ़ने लगी। अपने अदम्य उत्साह, धैर्य और अध्यवसाय से न केवल उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की, अपितु अपनी लेखनी की प्रतिभा से दुनिया को आश्चर्य-चकित कर दिया। अपनी जीवनी में उन्होंने अपनी अनुभूतियों के आधार पर एक बड़े पते की बात लिखी है :

"सुख का एक द्वार बंद होने पर दूसरा खुल जाता है, लेकिन कई बार हम बंद द्वार की तरफ इतनी देर तक ताकते रहते हैं कि जो द्वार हमारे लिए खोल दिया गया है, उसे देख नहीं पाते।"

हेलन के लिए जो द्वार खुला था, उसका श्रेय सोलहो आने कुमारी एन सलीवान को था। स्वयं हेलन ने उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए लिखा है, "मेरी अध्यापिका मेरे इतने पास है कि मैं कभी अपने को उसके बिना सोच ही नहीं सकती। मुझमें जो कुछ अच्छा है, वह सब उन्हीं का है। मुझमें कोई भी प्रतिभा, कोई भी उत्साह, कोई भी प्रसन्नता ऐसी नहीं है, जो उनके प्रिय स्पर्श द्वारा जाग्रत न हुई हो।"

अपने अथक परिश्रम से हेलन विश्वविद्यालय की स्नातिका बनीं और अंग्रेजी में उन्होने विशेष सम्मान प्राप्त किया। जिसने जीवन में इतने तूफान देखे, उसकी रुचि दर्शन में होनी स्वाभाविक ही थी। हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर ऑफ लॉ' की उपाधि से अलंकृत किया। पढ़ाई के साथ-साथ उन्होंने तैरना सीखा, घुड़सवारी करना सीखा और नाव खेना सीखा। इतना ही नहीं, उन्होंने शतरंज और ताश का भी अच्छा अभ्यास कर लिया। वह कहीं भी रुकी नहीं। बाधाओं को चीरकर रास्ता निकालती गईं, आगे बढ़ती गईं। अपनी जीवनी में वह लिखती हैं, "अगर उल्लंघन के लिए रेखाएं न होतीं, जीतने के लिए बाधाएं न होतीं, पार करने

के लिए सीमाएं न होतीं तो मानव-जीवन में पुरस्कार की तरह आने वाले आनंद के अनुभव में कुछ-न-कुछ कमी अवश्य आ जाती।"

३

उस दिन उनके सान्निध्य में हम लोग पूरे एक घंटे रहे। राष्ट्रपति उनसे मिले, उपराष्ट्रपति मिले, प्रधानमंत्री मिले, शिक्षामंत्री मिले, और लोग मिले। सबने उनसे कुछ-न-कुछ पूछा। उनकी सचिव सारे प्रश्नों को अपनी उंगली के स्पर्श से सांकेतिक भाषा में उन्हें बताती गईं और हेलन से उसी सांकेतिक भाषा में, उंगली के स्पर्श से, उत्तर प्राप्त करके बताती गईं। दोनों की उंगलियां इस तेजी से चलती थीं कि कुछ भी समझ पाना असंभव था। प्रश्न तरह-तरह के थे और उत्तर भी तरह-तरह के थे। हम लोग देखकर विस्मित रह गये। किसी ने पूछा, "आपको हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद कैसे लगे?"

उनका उत्तर था, "मेरे विचार से वह बड़े प्यारे हैं। वह न सिर्फ बढ़िया इंसान हैं, बल्कि दूसरों को मोह लेने वाले और प्रभावशाली हैं।"

उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन जब उनके पास आकर बैठे तो हेलन ने उनके माथे को छूकर कुछ कहा और जब प्रधानमंत्री उनके निकट बैठे तो हेलन ने उनके होंठों पर अपनी उंगलियां रख दीं और फिर थोड़ी देर तक उनके गाल को बड़े प्यार से सहलाया। शिक्षा-मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपने सवाल उर्दू में किये और प्रो० हुमायूं कबीर ने उनका अंग्रेजी में अनुवाद करके कुमारी पौली थामसन को बताया। एक अवसर पर वह कुछ चूक कर गये तो मौलाना ने स्वयं अंग्रेजी में बोलकर संशोधन किया। मौलाना को अंग्रेजी बोलते सुनने का मेरा वह पहला मौका था।

सस्ता साहित्य मंडल के संचालक-मंडल के सदस्य श्री जीतमल लूणिया ने भाई विष्णु प्रभाकर के द्वारा कहलवाया कि हेलन की हिन्दी जीवनी उन्होंने ही प्रकाशित की है तो हेलन ने होंठ हिलाकर कुछ अस्पष्ट ध्वनि में कहा, "थैंक यू।" (धन्यवाद।)

राष्ट्रपति भवन में बैण्ड बजा तो उसकी लय ने उनका स्पर्श किया। गोद में एक तकिया रखकर वह बिना किसी के बताये बड़ी उमंग से ताल लेती रहीं और सैकड़ों आंखें बड़े आश्चर्य से उस चमत्कार को देखती रहीं। सबने अनुभव किया कि इस संसार में स्थूल आंखों से जो दिखाई देता है, वही सब-कुछ नहीं है। और भी बहुत कुछ है।

उस दिन की संध्या निस्संदेह चिर-स्मरणीय बन गई। उनके जीवन में कहीं निराशा नहीं, कहीं कुण्ठा नहीं। किसी से कोई शिकायत नहीं—न दुनिया से, न प्रभु से। उनमें है तो बस प्रेम, उमंग, उत्साह और सबके हित की मंगल कामना। अनेक देशों का भ्रमण उन्होंने किया और जहां वह गईं, वहीं उन्होंने प्रेम और आशा का संदेश दिया। वह कहती हैं, "ऐसा स्वस्थ समाज, जिसकी सम्पदा हंसमुख बच्चे और प्रसन्न नर-नारियां हों, जिसकी श्री-सुषमा शांति और सृजनात्मक कार्यों से निर्मित हो, वह हमें किसी के आदेश से बना-बनाया नहीं मिलेगा। वह तो हमें अपने हाथों से ही गढ़ना पड़ेगा।"

उनका समूचा जीवन जैसे शतमुख से बोलता है और कहता है, "हमें जीवन में जो-कुछ भला-बुरा मिला है, वह प्रभु का वरदान है। हम अपने हृदय में सबके लिए प्रेम रखें और अपने हाथों से निरंतर दूसरे के कल्याण के काम करते रहें। बाधाएं आने पर निराश न हों और जीवन में सत्यं, शिवं और सुन्दरम के मार्ग पर मजबूत कदमों से आगे बढ़ते रहें, आगे बढ़ते रहें।" ○
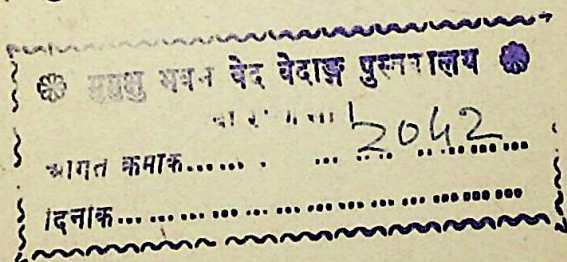
हमारा
संस्मरणात्मक साहित्य

राष्ट्रपिता

एक क्रांतिकारी के संस्मरण

मानवता के दीये

मानवता के झरने

मेरे संस्मरण

मील के पत्थर

सेतुबंध

कुछ शब्द : कुछ रेखाएं

कुछ देखा : कुछ सुना

बोलती तस्वीरें

बीता युग : नई याद

मेरे हृदय-देव

बापू के आश्रम में

काकाजी, बापू, विनोबा

देश-सेवकों के संस्मरण

सेतु-निर्माता